विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

वर्ष ४
अंक ४

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक ब । विशा । टा । ५६४
दिनांक ४ १९६६ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर – दिसम्बर १९६६

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

सह – सम्पादक एवं व्यवस्थापक

सन्तोषकुमार झा

विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्य प्रदेश)

फोन नं १०४८

विवेक ज्योति नियमावली

वार्षिक चन्दा	भारत में— ४)	एक अंक का १)
	विदेशों में—२ डालर या १० शिलिंग	

ग्राहकों के लिये —

१. 'विवेक-ज्योति' जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर महीने में प्रकाशित होती है। इसका वार्षिक चन्दा मनीआर्डर से भेजना चाहिए। पिछली प्रतियाँ बाकी रहने पर ही भेजी जा सकती है।

२. ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या, नाम और पता स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिए।

३. यदि कोई अंक न मिले, तो डाकखाने में पहले पूछताछ करनी चाहिये। जिस अवधि का अंक न मिला हो उसी अवधि में सूचना प्राप्त होने पर, अंक की प्रति बची रहने पर ही भेजी जायगी।

४. यदि पता बदल गया हो, तो उसकी सूचना तुरन्त दी जानी चाहिए।

लेखकों के लिये —

१. 'विवेक-ज्योति' में आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक लेख तो रहेंगे ही, पर शिक्षा, मनोविज्ञान, कला, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान प्रभृति महत्वपूर्ण विषयों पर जीवन के उच्चतर मूल्य सम्बन्धी लेख भी उसमें प्रकाशित किए जायेंगे। उसी प्रकार उच्च भावों की प्रेरणा देने वाले ऐतिहासिक और राष्ट्रीय चरित्रों के लिए भी इस त्रैमासिक में स्थान रहेगा। सुसंस्कृत अभिरुचिपूर्ण कविता, विशिष्ट दृष्टिकोण से लिखे

गये यात्रा-प्रसंग तथा पुस्तकों की समीक्षा को भी इसमें स्थान प्राप्त होगा।

२. किसी प्रकार की व्यक्तिगत या विघातक टीका के लिए 'विवेक-ज्योति' में स्थान न रहेगा।

३. लेख में प्रतिपादित मत के लिए लेखक ही जिम्मेदार रहेगा।

४. लेख को प्रकाशन के लिए स्वीकृत करने पर उसकी सूचना एक माह के भीतर दी जायगी। अस्वीकृत रचनाएँ आवश्यक टिकट प्राप्त होने पर ही वापस की जायेंगी।

५. यदि लेख एक अनुवाद हो, तो लेखक को साथ में यह भी सूचना देनी चाहिए कि अनुवाद की आवश्यक अनुमति ले ली गयी है।

६. कागज के एक ही ओर सुवाच्य अक्षरों से लिखे जायँ।

७. लेख संबंधी पत्र-व्यवहार सम्पादक से करना चाहिए।

— व्यवस्थापक

— सूचना —

'विवेक-ज्योति' के पिछले अंकों की कुछ प्रतियाँ प्राप्य हैं। जो इन पिछले अंकों का संग्रह करना चाहते हैं, वे १) की एक प्रति के हिसाब से खरीद सकते हैं। सुन्दर उद्‌बोधक विचारप्रवण लेखों से परिपूर्ण 'विवेक-ज्योति' का हर अङ्क संग्रहणीय है।

— व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति'

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय—

स्वामी विवेकानन्द, (हैदराबाद, सन् १८९३)

ग्राहकों को विशेष सूचना

१—'विवेक-ज्योति' के इस चतुर्थ अंक के साथ आपका वार्षिक चन्दा समाप्त हो रहा है। अतः अगले वर्ष के लिए अपना चन्दा ४) (चार रुपये) मनीआर्डर द्वारा कृपया व्यवस्थापक, विवेक ज्योति कार्यालय, पो० विवेकानन्द आश्रम रायपुर (म० प्र०) के पते पर भेजें।

२—जिन ग्राहकों का चन्दा हमें १५ दिसम्बर, १९६६ तक नहीं प्राप्त होगा, उन्हें 'विवेक-ज्योति' के चौथे वर्ष का प्रथम अंक वी० पी० पी० से भेजा जायगा। वी० पी० ४) ७५ की होगी। उन सबसे अनुरोध है कि वी० पी० कृपा करके छुड़ा लें, अन्यथा इस धार्मिक संस्था को व्यर्थ की हानि सहनी पड़ जायगी।

३—जिन सज्जनों को अब ग्राहक नहीं रहना है, वे कृपया एक कार्ड डालकर शीघ्र हमें सूचित कर दें जिससे हम उन्हें व्यर्थ वी० पी० न भेजें।

४—कुछ ग्राहकों से शिकायत आती है कि अंक उन्हें नहीं मिला। उनसे निवेदन है कि पहले अपने यहाँ के डाकघर में अच्छी तरह पूछताछ कर लें। यहाँ से 'विवेक-ज्योति' भेजने के पूर्व तीन बार चेकिंग करके भेजी जाती है। अतः जो गड़बड़ी होती है वह रास्ते में अथवा अन्तिम डाकघर में ही होती है। हमारे पास प्रतियाँ बची रहने पर हम ग्राहकों को गुमे अंक की प्रति पुनः भेजते ही हैं। प्रतियाँ शेष न रहने पर लाचारी है।

५—पत्र लिखते या मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।

— व्यवस्थापक

'विवेक-ज्योति'

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ४] अक्तूबर – १९६६ – दिसम्बर [अंक ४

वार्षिक शुल्क ४) -※- एक प्रति का १)

वासना-क्षय भोग से नहीं

न जातु कामः कामानाम्
उपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव
भूय एवाभिवर्धते ॥

—(राजा ययाति अपने जीवनव्यापी अनुभवों को प्रकट करते हुए कहते हैं:—) "कामनाओं का शमन कामनाओं को भोगने से नहीं होता। बल्कि जैसे आग में घी डालने से वह और भी प्रज्वलित हो जाती है उसी प्रकार वासनाएँ भी भोग से और भी बढ़ जाती हैं।"

—महाभारत, आदिपर्व, ८५। १२

मछली की गन्ध

किसी गाँव में एक मछुआ परिवार था। मछली पकड़ना और बाजार में बेच आना यही उसकी आजीविका थी। मछुआ भोर सुबह से लेकर शाम तक मछली पकड़ता और मछुई उसे बाजार में बेच आती। इससे उनके दिन किसी प्रकार बीत रहे थे।

एक दिन मछुई को दूर की हाट में मछली बेचने जाना पड़ा। मछलियाँ बिकते शाम हो आयी। परिचित साथी पहले ही घर की ओर रवाना हो गये थे। मछुई ने सोचा कि अकेले कैसे अँधेरे में इस दूर के रास्ते को तय किया जाय। विचार किया, पास के गाँव में मेरी बचपन की सहेली मालिन रहती है। उसके यहाँ रात रह जाऊँगी। बहुत दिनों से उससे मेल-मुलाकात भी नहीं हुई है। ऐसा सोचकर मछुई मालिन के गाँव की ओर रवाना हुई। गाँव पहुँचते उसे रात हो गयी।

अरसे बाद अपनी सहेली को आया देखकर मालिन लपककर उससे गले मिली। स्वागत करते हुए बड़े स्नेह के साथ घर के भीतर ले गयी। मछुई के सिर पर से मछली की टोकनी लेकर उसे अलग एक ओर रख दिया। संसार के सुख-दुख की बातें चलने लगीं। मालिन ने अपनी सहेली के लिए अपनी हैसियत के अनुसार विशेष भोजन की व्यवस्था की और ब्यालू के बाद बहुत रात तक दोनों की बातचीत होती रही।

अपने और मछुई के सोने की व्यवस्था मालिन ने अपने फूल रखने के कमरे में की। पर मछुई को नींद न आयी। वह बड़ी देर तक इधर उधर करवट बदलती रही। मालिन ने चिन्ता के स्वर में उससे पूछा, 'क्यों सखी, क्या नींद नहीं आ रही है ? क्या बात है ? तबीयत ठीक तो है?' मछुई बोली, 'क्या बताऊँ ! आँख लग ही नहीं रही है। यह जो तुमने इतने सारे फूल यहाँ रखे हैं—गुलाब के, मोगरे के, शायद इनकी गन्ध के कारण मुझे नींद नहीं आ रही है। जरा मेरी वह मछली की टोकनी लाकर दे दो। देखूँ, उससे कहीं नींद आये।'

मालिन उठी और मछली की टोकनी ले आयी। मछुई ने उस पर पानी के छींटे दिये और नाक के पास रखकर सो गयी। थोड़ी ही देर में वह खर्राटे भरने लगी !

संसारी लोगों को ईश्वर विषयक चर्चा तनिक नहीं सुहाती। सत्संग उन्हें बेचैन कर देता है। सत्संग और ईश्वर-चर्चा में भी उन्हें संसार की गन्ध चाहिए। मछुई को फूलों की सुन्दर खुशबू नहीं सुहायी। उसे तो मछली की गन्ध में ही सन्तोष मिला। ईश्वर के नाम और साधु-संग में जो सुगन्ध है, वह विषयी व्यक्तियों के लिए कष्टप्रद है; उन्हें तो विषयों की गन्ध ही चाहिए।

———

जीवन का प्रयोजन

श्रीमत् स्वामी वन्दनानन्द जी महाराज, अमेरिका

श्रीरामकृष्ण अपने पास आने वाले लोगों से कहा करते थे, "ईश्वर को प्राप्त करो। यही ज़ीवन का एकमात्र प्रयोजन है।" हम इस सत्य को केवल 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' में ही नहीं प्रत्युत सभी धर्म के ग्रन्थों में पढ़ते हैं। यदि किसी महात्मा या संत से पूछा जाय कि जीवन का उद्देश्य क्या है तो वह एक स्वर से यही कहेंगे—"ईश्वर को प्राप्त करना।"

मन किसी विचार या धारणा को दो विधियों से स्वीकार करता है। पहली विधि है हृदय के द्वारा स्वीकार करना। हम इसे 'विश्वास' या 'श्रद्धा' कहते हैं। आप किसी बात को शत-प्रतिशत सच मानते हैं। क्यों? इसलिये कि आप समझते हैं कि यह सत्य है। इस सम्बन्ध में कोई तर्क नहीं किया जाता, किसी प्रश्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। तर्क या बुद्धि के द्वारा अनुमोदन करना दूसरी विधि है। बुद्धि-वादी व्यक्ति कहता है, "मुझे मानने के लिये बाध्य मत करो। जब मेरी बुद्धि इसकी सत्यता को अनुभव करेगी तभी मैं इसे मानूँगा।"

श्रीरामकृष्ण मनुष्यों को समझाने के लिये दोनों विधियों का प्रयोग करते थे। कुछ लोगों को वे श्रद्धावान् बनने का

उपदेश देते थे। अन्य लोगों को वे विश्लेषण की प्रणाली से समझाते थे। असंगति-प्रदर्शन की प्रणाली से बुद्धिवादी व्यक्ति एक कोने में घिर जाता है। यदि उससे पूछा जाय, "क्या तुम्हारा कोई उद्देश्य है ? क्या यह तुम्हारा उद्देश्य है ? क्या वह तुम्हारा उद्देश्य है ?" तो वह निषेध की प्रणाली से अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ईश्वर का साक्षात्कार करना ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य है।

इस संसार में हमारा जन्म हुआ है। हम यह नहीं जानते कि हम कहाँ से आये हैं। बचपन में हम सारे संसार को एक खेल समझते हैं। बड़े होने पर हमारा खेल समाप्त हो जाता है और हम सोचना प्रारम्भ कर देते हैं। हम अपने चारों ओर देखते हैं और हममें से प्रत्येक व्यक्ति स्वयं से प्रश्न करना शुरू कर देता है, "मैं कौन हूँ ? मैं कहाँ से आया हूँ ?" जब हम इन गुत्थियों को सुलझाकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं तो हम जिसे सत्य समझते हैं उसका पालन करने के लिये हमें अधिक अवसर नहीं मिलता। सबसे पहले हमपर अपने परिजनों और शाला के मित्रों का प्रभाव पड़ता है। इन्हें ही वातावरण कहा जाता है। ये प्रभाव हमारी विचारणा, हमारे दृष्टिकोण और हमारे व्यवहार को नियोजित करते हैं। वातावरण और उससे प्रभावित होने की हमारी क्षमता दो ऐसे शक्तिशाली तत्त्व हैं जो हमारे जीवन के प्रयोजन को निर्धारित करते हैं।

व्यक्ति के मन में एक दूसरा प्रश्न भी उदित होता है— "मैं क्या करना चाहता हूँ ?" व्यक्ति एक काम करता है पर

उसे वह अच्छा नहीं लगता। वह दूसरे काम में हाथ लगाता है किन्तु वह भी उसे पसन्द नहीं आता। कुछ समय के बाद वह विवाह कर लेता है। किन्तु इतने पर भी वह जिसकी खोज कर रहा है वह उसे नहीं मिलता। वह अकेले रहने का निश्चय करता है, पर थोड़े ही समय में उसका उत्साह जाता रहता है। वह भले ही किसी आश्रम में जाकर रह जाय, पर वहाँ भी उसे वह नहीं मिलता जिसे वह पाना चाहता है।

जब व्यक्ति इस प्रश्न से परेशान हो जाता है कि "मैं इतना सब तो कर रहा हूँ पर इसका उद्देश्य क्या है? मेरे जीवन-धारण का लक्ष्य क्या है?" तो वह क्या जानना चाहता है? वह वास्तव में अपने गन्तव्य को जानना चाहता है। वह अपने अन्तिम लक्ष्य को समझना चाहता है। हम बन्दरगाह से जहाज पर बैठकर निकल पड़े हैं। हमारा जहाज चला जा रहा है। हम कभी एक दिशा की ओर जाते हैं तो कभी दूसरी दिशा की ओर। हम दिशारहित नहीं हैं। हमारे दृष्टिकोण और हमारी प्रवृत्तियों के द्वारा हमारे जीवन की दिशा का निर्धारण होता है। किन्तु हमारे मन की अतल गहराई में यह प्रश्न जागता रहता है कि "मैं कहाँ जा रहा हूँ? मैं कहाँ पहुँचने के लिये जा रहा हूँ?" इस अशान्ति का क्या कारण है? वह यह कि जब हम जीवन-सागर में अपनी नौका को गन्तव्य को जाने बिना खेये चले जाते हैं, जब हम बिना किसी निश्चित उद्देश्य के जिये जाते हैं तब हम उद्विग्न हो उठते हैं और हमें शांति नहीं मिलती।

वेदान्त मनुष्य की अशान्ति की व्याख्या करता है। वह बताता है कि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप अनिवार्यतः दैवी है किन्तु वह अज्ञान के आवरण में ढँका हुआ है। मनुष्य यह भूल गया है कि वह आत्मा है, इसीलिये उसका मन उद्विग्न हो उठता है। अपने मन को अपने सच्चे स्वरूप से जो वस्तुतः शुद्ध और पूर्ण है, युक्त करने पर ही उसे शान्ति मिल सकती है। किन्तु जब तक वह अपने सच्चे स्वरूप को पाने का प्रयत्न नहीं करता तब तक वह चरम लक्ष्य के स्थान पर भौतिक यथार्थ को ही अपना उद्देश्य मान लेता है।

वेदान्त मनुष्य की तीन प्रमुख इच्छाओं का वर्णन करता है। पहली इच्छा परिवार, पत्नी और संतान से सम्बन्धित है। उसकी दूसरी इच्छा सम्पत्ति और धन की होती है। स्वामित्व व्यक्ति को महत्ता का भाव प्रदान करता है। तीसरी इच्छा परलोक या स्वर्ग से सम्बद्ध होती है जहाँ उसे जाना है। हम मृत्यु को एक अनिवार्य घटना के रूप में जानते हैं और हम जीते-जी अपने परलोक को भी सुधार लेना चाहते हैं। यह किस प्रकार? दान के द्वारा। ये तीनों इच्छाएँ अनेक प्रकार से मनुष्य को कार्य करने के लिये प्रेरित करती हैं। किन्तु प्रत्येक कार्य के बाद व्यक्ति का मन अशान्त ही बना रहता है।

उदाहरण के तौर पर मान लीजिये कि आप ऊब गये हैं। आप बैठकर टेलिविजन का बटन दबाते हैं। आप समझते हैं कि इससे आपकी उकताहट मिट जायेगी और

आप का मन शान्त हो जायेगा। किन्तु इससे क्या होता है? आधे घण्टे में ही आप इस मनोरंजन से भी ऊब जाते हैं। आपका मन भर जाता है और आप टेलिविजन को बन्द कर देते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि इससे आपकी समस्या का समाधान नहीं होता। इससे आपकी उकताहट नहीं मिट पाती। यह बात प्रायः जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू होती है।

इसलिये वेदान्त के उपदेशक पूछते हैं, "तुम क्या खोज रहे हो?"

"मैं विश्राम, मानसिक शान्ति और
आनन्द की खोज कर रहा हूँ?"

वेदान्तवादी आनन्द और सुख को दो पृथक् धारणाएँ समझते हैं। ऋषि यह स्पष्ट रूप से बता देते हैं कि आनन्द ही आध्यात्मिक जीवन का भी लक्ष्य है। वे कहते हैं, "हाँ, आनन्द ही लक्ष्य है। किन्तु तुम आनन्द नहीं, सुख चाहते हो। आनन्द सुख से भिन्न है। सुख साधन है। वह साध्य नहीं है।" जब तक व्यक्ति सुख खोजता रहता है, जब तक वह अपनी इच्छाओं को बाह्य वस्तुओं से तुष्ट करना चाहता है तब तक उसकी खोज का अंत निराशा में ही होगा। इसलिये वेदान्त उसे ईश्वर को अपने जीवन का लक्ष्य बनाने की सीख देता है। वह यह भी बताता है कि यदि व्यक्ति ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु को खोजता है तो उसके लिये कोई किनारा नहीं है, कहीं ठौर नहीं है और वह कभी भी चिरस्थायी मानसिक शान्ति और आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सकता।

उदाहरण के लिये मान लीजिये कि एक व्यक्ति में धन की लालसा है। वह कहाँ रुकेगा ? क्या एक करोड़ रुपया पाकर ? जिस प्रकार एक रुपया कमाने से उसे एक करोड़ रुपया कमाने की प्रेरणा मिली थी, उसी प्रकार एक करोड़ रुपया उसे और अधिक रुपया कमाने के लिये प्रेरित करेगा। वह सोचेगा, "तुम एक करोड़ रुपया कमाकर कैसे रुक गये ? क्या तुम महत्त्वाकांक्षी नहीं हो ? और अधिक कमाने का प्रयत्न करो। जब तक शक्ति और साँस बाकी है तब तक और अधिक कमाने का प्रयत्न करो।" प्रत्येक सांसारिक कार्य का उद्देश्य अधिक प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना है। जब तक व्यक्ति इस उद्देश्य का पालन करता है तब तक वह अपने वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। किन्तु निराशा और कष्ट की बार-बार अनुभूति करने से विवेक जागता है और तब व्यक्ति ईश्वर की ओर मुड़ता है, उनका दर्शन करने के लिये व्याकुल होता है और उनकी ओर मन लगाता है।

जब तक आपको ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं है तब तक आप स्वयं को यह विश्वास कैसे दिला सकते हैं कि ईश्वर ही जीवन का लक्ष्य है ? अतः कहीं से प्रारम्भ तो कीजिए, परीक्षण कीजिए; इसीसे श्रद्धा का उदय होगा। इसीलिये व्यक्ति को आध्यात्मिक साधना करने का उपदेश दिया जाता है। साधना से बाधाएँ हट जाती हैं और ईश्वर की कृपा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यदि आप गुरु के समीप न जाएँ, उनकी बातों पर निरन्तर सन्देह करें और

यह कहते रहें कि "मैं आपकी बात पर विश्वास नहीं करता," तो आपको जीवन के किसी भी क्षेत्र में ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी। गुरु आपसे कहेंगे, "मेरे समीप आओ। मेरे अनुगामी बनो। मैं तुम्हें ज्ञान प्रदान करूँगा। मेरे साथ काम करो और तुम स्वयं मेरे समान इस विद्या के स्वामी बन जाओगे।" जो आदमी अपनी ओर से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ाता और हमेशा ऐसा तर्क करता रहता है कि "ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करो, आध्यात्मिक सत्य का प्रमाण दो तभी मैं उसे स्वीकार करूँगा," तो उसे किसी आध्यात्मिक उपदेश से क्या लाभ होगा? श्रीरामकृष्ण सदैव कहा करते थे, "कुछ तो करो! आध्यात्मिक जिज्ञासु तो बनो। जैसे जैसे तुम प्रगति करोगे, तुम्हें प्रश्न पूछने की आवश्यकता नहीं रह जायेगी।"

यदि आप ईश्वर को अपने जीवन का उद्देश्य बना लेते हैं तो आप शाश्वत शान्ति की ओर अपना पहला कदम बढ़ाते हैं। भले ही आप ईश्वर पर विश्वास न करें पर आप तथा अन्य सभी उन्हीं के पास पहुँचेंगे। कल्पना कीजिये कि एक व्यक्ति निरुद्देश्य घूमते-घूमते अचानक बम्बई पहुँच जाता है। आप यह नहीं कहेंगे कि वह बम्बई जाना चाहता था। वह तो वहाँ ऐसे ही पहुँच गया जहाँ अन्य लोग सप्रयोजन पहुँचते हैं। यही बात आध्यात्मिक जीवन के विषय में भी लागू होती है। वेदान्त बताता है कि प्रत्येक व्यक्ति जाने-अनजाने रूप से भगवान् की ओर बढ़ रहा है। जो लोग इस तथ्य को नहीं जानते, उन्हें ईश्वर तक पहुँचने में उन लोगों

की अपेक्षा अधिक समय लगता है जो इसे जानकर तत्परता पूर्वक प्रयत्न करते हैं। यह निश्चित है कि मनुष्य ईश्वर की ओर जा रहा है क्योंकि उसका सच्चा स्वरूप दैवी है, शुद्ध-बुद्ध और पूर्ण है तथा एक न एक दिन उसका यह ईश्वरीय स्वरूप अवश्य प्रकाशित होगा।

यदि हमें यह बताया जाये कि हम कभी-न कभी लक्ष्य को निश्चित रूप से प्राप्त करेंगे तो क्या हमें अपने सारे जीवन को बिना किसी उद्देश्य के बिता देना चाहिये ? क्या फिर साधनाओं की आवश्यकता न होगी ? नहीं। जीवन के लिये एक सुनिश्चित उद्देश्य अनिवार्य है क्योंकि इसके द्वारा हम, निराशा, अवसाद और उकताहट से बचते हैं। यदि आप ईश्वर को अपने जीवन का उद्देश्य नहीं बनाते तो शान्ति के ये तीनों शत्रु आपका पीछा करते रहेंगे। किन्तु यदि आप ईश्वर को अपने जीवन के प्रयोजन के रूप में अवतरित करते हैं तो आपपर इनका प्रभाव क्रमशः क्षीण होता जायेगा।

ईश्वर को जीवन का उद्देश्य बनाने का तात्पर्य वस्तुतः क्या है ? व्यक्ति के अन्तःकरण में निहित पूर्णता और देवत्व को प्रकाशित करना ही इसका प्रयोजन है। प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण बनना चाहता है किन्तु बिरले लोग ही अपने हृदय को विशुद्ध बनाकर पूर्णता को प्रकाशित करने के लिये आवश्यक प्रयत्न करते हैं। मनुष्य को इस योग्य कैसे बनाया जाये कि वह स्वेच्छा से देवत्व की प्राप्ति के लिये संघर्ष कर सके ?

वेदान्त के उपदेष्टा एक निराले ढंग से मनुष्यों को

आध्यात्मिक जीवन की ओर आकर्षित करते हैं। वे कहते हैं "अच्छा, तुम अपने शरीर और इन्द्रियों के द्वारा संसार का भोग करो। किन्तु दिन में एक बार एक निश्चित समय पर तुम अपने मन को भगवान् के चिन्तन में लगा दो। 'यदि तुम चाहो' तो बाकी समय में भगवान को भुला सकते हो।" ऋषि जानते थे कि यदि व्यक्ति से दिन में एक बार भगवान् का स्मरण करने के लिये कहा जाय और 'यदि वह चाहे' तो बाकी समय में उसे ईश्वर को भुलाने की छूट दे दी जाये तो कोई भी असल में भगवान् को नहीं भुलाना चाहेगा। मनुष्य भूल सकता है और असल में वह भगवान् को भूल जाता है। पर यदि वह ईश्वर का स्मरण नियमित रूप से करे, चाहे दिन में एक ही बार क्यों न हो, तो एक आदत बन जाती है। जब प्रार्थना का समय आता है तब मन स्वभावतः यह सोचने लगता है कि "यह भगवत्-स्मरण का समय है।"

इसी प्रकार जीवन के प्रयोजन का विकास होता है। आध्यात्मिक जीवन के आरम्भ में साधक का एकमात्र उद्देश्य गुरु की आज्ञा का पालन करना और उनके उपदेशों के अनुरूप दिन में निश्चित समय पर एक बार भगवान् का स्मरण करना होता है। धीरे-धीरे प्रार्थना का समय एक आदत बन जाती है और वह जीवन के वास्तविक उद्देश्य के रूप में बदल जाती है। तब मन यह विचार करता है— "मैं क्या खोज रहा हूँ ? आध्यात्मिक साधनाओं के द्वारा मुझे क्या मिलेगा ? ईश्वर। यदि दिन में एक बार भगवान्

का ध्यान करने से मुझे लाभ हुआ है और यदि मैं अनुभव करता हूँ कि भगवान् अधिक मेरे साथ हैं तो मैं सोचता हूँ, मुझे उनका ध्यान दिन में दो बार करना चाहिये।" इस-प्रकार ध्यान का समय बढ़ता है।

जैसे-जैसे नियमित रूप से और लगन के साथ हम प्रत्येक दिन भगवान को भजेंगे, वैसे-वैसे काम और लोभ जैसी ईश्वर-साक्षात्कार की बाधाएँ नष्ट होती जायेंगी। वेदान्त सिखाता है कि हमें अपने मन को बाधाओं, दुर्बलताओं और असफलताओं में डुबाये नहीं रखना चाहिये। हमें अपने मन को ईश्वर की ओर मोड़ना है। सभी अपूर्णताएँ स्वाभाविक रूप से हमसे अलग हो जायेंगी। कालान्तर में, काम विशुद्ध भक्ति के रूप में परिवर्तित हो जायेगा और लोभ चरम निःस्वार्थ में बदल जायेगा।

श्रीरामकृष्ण ने एक बार अपने एक शिष्य से कहा था, "तुम काम को क्यों संयमित करना चाहते हो? उसे बढ़ाओ!" पहली दृष्टि में यह कथन बड़ा विदारक प्रतीत होता है। पर आइये हम इस कथनकी गहराई में जायें। काम और लोभ स्वामित्व-प्राप्ति की इच्छाएँ हैं। यह विचार का ऐसा प्रवाह है जो भोजन, या धन, या लाभ, या शरीर या अन्य किसी वस्तु के साथ अपने को जोड़ ले सकता है। अतः यह वासना ईश्वर को प्राप्त करने की कामना में भी परिवर्तित की जा सकती है। श्रीरामकृष्ण ने अपने भक्तों को यही सीख दी थी। ऐसा ही भाव वृन्दावन की गोपियों का था। उनमें अपने हृदय में श्रीकृष्ण को बिठाये रखने का

बड़ा लोभ था। वे इस ईश्वरीय अवतार से उत्कट प्रेम करती थीं तथा इसी प्रेम ने उनके मन से वासनाओं को निकाल दिया था।

गोपियों की एक कहानी है। एक बार उन्होंने अपने स्मरणार्थ श्रीकृष्ण का एक चित्र अंकित किया, किन्तु उन्होंने श्रीकृष्ण के चरणों को नहीं बनाया। एक ज्ञानाभिमानी व्यक्ति ने जब यह देखा तो उसने गोपियों से पूछा, "अरी, तुम लोग कितनी मूर्खा हो। वाह! तुमने अपने प्रियतम का कितना सुन्दर चित्र खींचा है जिसके पैर ही नहीं हैं! तुमने पैरों को क्यों नहीं बनाया?" गोपियों ने कहा, "आह! तुम नहीं समझते! यदि हम प्रियतम को पैर दे दें तो वे भाग न जायेंगे!" गोपियों की यह एकनिष्ठ भक्ति उच्च आध्यात्मिक उपलब्धि है। बिरले ही व्यक्ति अपने आध्यात्मिक जीवन की शुरुआत प्रभु के प्रति ऐसे उत्कट प्रेम के साथ करते हैं। वेदान्त सिखाता है कि यदि व्यक्ति एकाग्र मन से नियमित रूप से ध्यान करता है तो उसमें भक्ति उपजेगी और उसे शान्ति मिलेगी।

बहुधा लोग पूछते हैं—"तुम वेदान्ती लोग मनुष्य को भुलाकर हमेशा 'ईश्वर, ईश्वर, ईश्वर' की रट क्यों लगाया करते हो? मानव-सेवा की बात क्यों नहीं करते?" इसका उत्तर यह है कि वेदान्त ने संसार को सेवा का उच्चतम आदर्श प्रदान किया है? वह हमें तीन बातों की सीख देता है। पहली बात है—प्रत्येक प्राणी में ईश्वर का दर्शन करो। प्रत्येक व्यक्ति असल में ब्रह्मस्वरूप है। आपको स्वयं को तथा

अन्य लोगों को ईश्वर के रूप में देखना चाहिये। जब आप किसी व्यक्ति को देखते हैं तो उसे मनुष्य समझने के पहले उसके भीतर विद्यमान ईश्वर को देखिए। उस व्यक्ति के हृद-यस्थ प्रभु को प्रणाम कीजिये। यदि आप ईश्वर को सभी लोगों में देखना सीख जायेंगे तो आप देखेंगे कि आपको एकदिन अलौकिक दर्शन होगा और आप इस सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति करेंगे कि प्रत्येक के हृदय में एक ही भगवान् विराजमान हैं।

दूसरे, वेदान्त हमें मानव-व्यक्तित्व की महत्ता का पाठ पढ़ाता है। यह एक पूरक उद्देश्य है। वेदान्त सिखाता है कि मनुष्य, मनुष्य के रूप में पवित्र है। किन्तु आपको स्मरण रखना चाहिये कि मन को भगवान् की ओर ही लगाना है। तभी मानव-महत्ता के आदर्श के सच्चे अर्थ को अनुभूति हो सकती है। मन को भगवान् की ओर कैसे लगाया जाय ?

इस विषय पर स्वामी विवेकानन्द ने दो महान् उपदेशों पर बड़ा बल दिया है। इनमें से एक यह है — "प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थान पर महान् है।" इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का आदर करना चाहिये — चाहे वह धनी हो या गरीब, काला हो या गोरा, संसारी हो या महात्मा। वह मानव है इसीलिये वह अपनी जगह पर महान् है। हमें किसी व्यक्ति को हिकारत की नज़र से देखने का अधिकार नहीं है। हम यह नहीं जानते कि व्यक्ति की महत्ता कब अपने को प्रकाशित कर देगी। अवसर आने पर हम देखेंगे कि उसके मन में विपुल क्षमता और शक्ति भरी हुई है।

श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी श्री माँ ने इस सत्य की बार-बार शिक्षा दी है। उन्होंने लोगों को उपदेश दिया था कि सभी प्राणियों का आदर करना चाहिये, भले ही उनमें ईश्वर की प्रतीति हो या न हो। उन्होंने सिखाया था कि अपने को बड़ा नहीं समझना चाहिये और सभी का आदर करना चाहिये। इसप्रकार का दृष्टिकोण जीवन के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है।

एक दिन श्री माँ के सामने एक बिल्ली कमरे में घुसी। उन्होंने कहा, "तुम्हें बिल्ली का भी आदर करना चाहिए।" इसके पीछे कौन सी भावना है ? वे जानती थीं कि बिल्ली के रूप में उसका शरीर मानव-शरीर से बड़ा नहीं है, किंतु मनुष्य के समान बिल्ली भी देवत्वपूर्ण है, दोनों में एक ही ईश्वर विराजमान है, इसलिये पशु से भी प्रेम करना चाहिये और उसकी महत्ता के अनुरूप उससे व्यवहार करना चाहिये।

स्वामी विवेकानन्द की दूसरी महान् शिक्षा यह है— "हम अपना ही कल्याण करते हैं, दूसरों का नहीं।" उन्होंने दानदाता को उपदेश दिया था कि उसे सिर झुकाकर विनम्रता पूर्वक दान देना चाहिये और उन्होंने याचक से कहा था कि उसे खड़े होकर दान ग्रहण करना चाहिये। दाता को क्यों झुकना चाहिये ? इसलिए कि वह दान के द्वारा अपना जितना कल्याण करता है उतना वह याचक का कल्याण नहीं करता। जब भी वह दूसरे की सहायता करता है, उसका हृदय विशाल होता जाता है। याचक पैसे लेकर सोचता है, "मुझे इतने पैसे मिले हैं।" दाता को क्या मिलता है ?

करुणा। पैसे की मात्रा से नहीं प्रत्युत दान के पीछे निहित भाव से दाता अपने हृदय को पवित्र कर सकता है। उचित भाव से दान करने पर उसका हृदय दिन-प्रतिदिन अधिक करुणावान् बनता जाता है। इसप्रकार दाता को महान् लाभ होता है। प्रायः हम जब किसी की सहायता करते हैं तो हम समझते हैं कि हमने संसार का भला किया है। असल में, हम अपना ही भला कर रहे हैं। निःस्वार्थ रूप से कर्मों को करने से हम उत्तरोत्तर भगवान् की ओर बढ़ते जाते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—"तुम्हारे हृदय को सागर के समान होना चाहिये।" सागर में नदियाँ गिरती हैं किन्तु वह उद्वेलित नहीं होता। क्या आप ऐसा बन सकते हैं? यदि आप किसी वस्तु की इच्छा-अनिच्छा न करें और प्राणियों के प्रति अपने प्रेम का प्रसार करें तो आप सागरवत् प्रशांति की उपलब्धि कर सकते हैं। आप इस रास्ते से भी भगवान् के पास पहुँच सकते हैं। किन्तु स्वामी विवेकानन्द बताते हैं कि मनुष्य को मनुष्य के रूप में प्रेम करने का यह रास्ता बड़ा लम्बा है। वे हमें इस बात को याद रखने का उपदेश देते हैं कि ईश्वर के रूप में मनुष्य को प्रेम करना और मनुष्य की सेवा को ईश्वर की पूजा समझना उच्चतम आदर्श है और यह चरमलक्ष्य तक पहुँचने का अपेक्षाकृत सीधा मार्ग है।

जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये वेदान्त एक तीसरी विधि भी बताता है। कुछ व्यक्तियों को पूजा करना

नहीं भाता। ऐसे लोग अपने कर्त्तव्यों का बड़ी ईमानदारी से पालन करते हैं और इसे ही पर्याप्त समझते हैं। अपने काम को पूरे तौर पर करने से जो सुख मिलता है वही इनका एकमात्र लक्ष्य है। कुछ लोग काम को कठिन और उबा देने वाला मानते हैं पर वे ईमानदार होने के कारण काम भी करते हैं और दुःख भी पाते हैं। सूरज उगता है और डूब जाता है। प्रकृति अपने को फिर दुहराती है और ऐसे लोग समय एवं नियम के गुलाम बने रहते हैं। कार्य सुखदायी हो या दुखदायी, पर यदि उसे कर्मयोग की विधि से सम्पन्न किया जाय तो उसे आध्यात्मिक प्रगति का साधन बनाया जा सकता है। कर्मयोग एक ऐसी विधि है जिसके अनुसार व्यक्ति निःस्वार्थ भाव से कार्यों का सम्पादन करके ईश्वर का साक्षात्कार करता है। यह एक ऐसी प्रणाली है जिससे मन को कर्म-फल की स्वार्थमयी भावना से अलग किया जा सकता है। कार्य के फल को ईश्वर को अर्पित कर देना चाहिये। कर्मयोग की साधना से व्यक्ति का मन आन्तरिक प्रकृति (इच्छा और लालसा) और बाह्य प्रकृति के प्रभावों से मुक्त हो जाता है। आदर्श कर्मयोगी का उद्देश्य सफलता से हर्षित न होते हुए और विफलता से बिना निराश हुए कार्य को कार्य के लिये करना और कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के लिये करना होता है। यदि कोई व्यक्ति यश और कीर्ति पाने के लिये काम करता है तो वह आध्यात्मिक उद्देश्य से विमुख हो जाता है। अनासक्त कर्ता कर्त्तव्य के चक्के को चलाने के लिये अपना कन्धा भिड़ाता है, चक्के की कील में

स्नेहपूर्ण भावना का तैल डालता है और संघर्षण एवं असंतोष को दूर हटाता है। धीरे-धीरे कर्त्तव्य का भाव लुप्त होने लगता है और कार्य आराधना का एक रूप बनता जाता है। आध्यात्मिक जागरण के इस सोपान में कर्त्ता को यह अनुभव होता है कि भगवान् ही कर्त्ता हैं और वह ईश्वर का एक उपकरण मात्र है।

जब ईश्वर को जीवन का चरम उद्देश्य मान लिया जाना है और जब साधक को यह विश्वास हो जाता है कि वह अपने उद्देश्य को पा लेगा तो वह अपना शेष सब समय बड़े उत्साह से, निष्ठा और धैर्य के साथ, साधना में लगा देता है। व्यक्ति में धैर्य कैसे आता है? स्वार्थ-त्याग के द्वारा। दूसरों के लिये सदैव अपने सुख का त्याग करते रहने से धैर्य की प्राप्ति होती है। धैर्य आध्यात्मिक जीवन के अत्यावश्यक साधनों में से एक है।

एक गुरु और उसके तीन शिष्यों की एक कथा है। उनके एक शिष्य को चोरी की लत थी। अन्य दो शिष्यों ने गुरु से इसकी शिकायत की और कहा, "गुरुदेव, वह हमीं लोगों में से एक साधु होकर चोरी करता है।"

गुरु ने शान्त भाव से उत्तर दिया- "वह सुधर जायेगा।"

फिर छः महीने बीत गये पर वह शिष्य चोरी करता ही रहा। वह यह नहीं जानता था कि उसके गुरु उसके दुष्कृत्यों को जानते हैं। उसके गुरुभाई धीरज खो बैठे। वे पुनः गुरु के पास गये और उन्हें बताया, "गुरुदेव, हम आश्रम छोड़ रहे हैं।"

"क्यों ?"

"क्योंकि वह व्यक्ति बुरा काम करता रहता है और आप उसे नहीं डाँटते। वह फिर कैसे सुधरेगा ? क्या आप हममें और उसमें कोई भेद नहीं करते ? हम ऐसे स्थान में नहीं रह सकते।"

"अच्छी बात है," गुरु बोले, "मैं तुम लोगों पर नाराज नहीं हूँ। तुम लोग कहीं और चले जाओ और यदि तुम्हें ऐसा लगे कि गलतियों में डूबे तुम्हारे भाई ने तुम्हारे समान आध्यात्मिक प्रगति कर ली है तो वापस लौट आना ?"

"गुरुदेव ! यह कैसे होगा ?"

"देखो, तुम लोग ऐसा समझते हो कि तुमलोग उसकी अपेक्षा ऊँचे तपस्वी हो। तुम कहते हो कि वह बुरा काम करता है। ऐसा लगता है कि तुम यह जानते हो कि अच्छा क्या है और बुरा क्या है। इसीलिए तुम उसके गुणावगुण की परख कर रहे हो। तुम लोग जा सकते हो। तुम्हारा भाई यहीं रहेगा।"

"किन्तु क्या आप उसके साथ यहीं रहेंगे ?" शिष्यों ने गुरु से पूछा।

"हाँ।"

"कब तक ?"

"जब तक वह यह न जान ले कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है। वह एक न एक दिन यह समझ जायेगा।"

तब शिष्यों को सत्य की प्रतीति हुई। उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें किसी के गुणावगुण की परीक्षा नहीं करनी चाहिये। वे जान गये कि उनके आध्यात्मिक अहंकार का कारण वही अज्ञान है जो उनके गुरुभाई की चोरी का कारण है। यह कौन कह सकता है कि अच्छा क्या है और बुरा क्या है? गुरु अपार धैर्यवान थे। वे जानते थे कि उनके शिष्य असत्य से सत्य की ओर नहीं, पर निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर बढ़ रहे हैं।

ईसा ने बड़ी अद्भुत शिक्षा दी है—"परीक्षा मत करो ताकि तुम्हारी परीक्षा न हो।" पर मान लीजिये कि कोई व्यक्ति ऐसा सोचता है, "मुझे किसी की परीक्षा नहीं करनी चाहिये ताकि कोई मेरी परीक्षा न करे," तो वह ईसा के कथन का गलत अर्थ लगाता है। यद्यपि व्यक्ति के दिमाग में दूसरों के अवगुणों का लेखा-जोखा भरा पड़ा है पर यदि वह अपनी आलोचना के भय से दूसरों की निन्दा नहीं कर पाता, तो वह कायरता और कपट को आश्रय देता है। दूसरों के गुणावगुण को न देखने की सलाह देकर ईसा यह भी कहते हैं, "क्षमा करो, और तुम्हें भी क्षमा किया जायेगा।" 'छिद्रान्वेषण न करना' और 'क्षमा' के इन दोनों उपदेशों को एक साथ ग्रहण करना चाहिये। हमें सदैव क्षमा करना चाहिये। हम क्षमा की सीमा-रेखा कहीं खींच नहीं सकते। क्षमा से धैर्य की प्राप्ति होती है।

एक बार एक विद्यार्थी स्वामी विवेकानन्द के शिष्य स्वामी सदानन्द से मिला। स्वामी सदानन्द ने उससे शब्दकोश

लाने के लिये कहा और उसमें 'सर्जनात्मक' और 'विध्वंसात्मक' शब्दों का अर्थ देखने के लिये कहा। अर्थ पढ़ने के बाद स्वामीजी ने उँगली उठाकर जोर देते हुए तीन बार दुहराया—"सर्जनात्मक बनो, सर्जनात्मक बनो, सर्जनात्मक बनो !"

हमें चुनाव की स्वतंत्रता है। हम सर्जनात्मक भी बन सकते हैं और विध्वंसात्मक भी। यदि हम संसार को अपना उद्देश्य बनाते हैं तो अपने सर्जनात्मक बनने के प्रयत्न के बावजूद हम विध्वंसात्मक ही बनेंगे। यदि हमारा उद्देश्य ईश्वर है तो हममें विध्वंसात्मक बनने की प्रेरणा नहीं होगी। यदि हम सर्जनात्मक हैं तो हम कर्म या कर्तव्य—चेतना की गरिमा से मण्डित होंगे, हमारे भीतर मानव-व्यक्तित्व की महत्ता और सर्वभूतों के प्रति प्रेम का उदय होगा और हमें इस बात पर दृढ़ विश्वास होगा कि प्रत्येक जीव ईश्वरत्व से परिपूर्ण है। और अन्त में हम यह अनुभव करेंगे कि ईश्वरत्व ही सम्पूर्ण जीवन का सार है।

'वेदान्त ऐण्ड दि वेस्ट' से साभार।

ईश्वर का शत्रु कभी मानव का सच्चा मित्र नहीं हुआ।

— यंग

स्वामी शिवानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

युगावतार श्रीरामकृष्णदेव कामिनी और कांचन से पूर्णतः निर्लिप्त संन्यासी-शिरोमणि थे। उन्होंने विवाहित होते हुए भी स्वयं को जागतिक सम्बन्धों से ऊपर उठा लिया था और आधुनिक विश्व के समक्ष गार्हस्थ्य जीवन का एक नया आदर्श प्रस्तुत किया था। उनके लोकोत्तर जीवन के इस पक्ष से विवाहित जीवन की नयी सम्भावनाओं और नये अर्थों का बोध होता है। उन्होंने विवाह को आध्यात्मिक पूर्णता के पथ के रूप में देखा था और वे स्वयं उस पथ से चलकर लक्ष्य तक पहुँचे थे। युगावतार के जीवन का यह पक्ष स्वामी शिवानन्द के जीवन में भी प्रतिबिम्बित होता है। यद्यपि स्वामी शिवानन्द ने अपने जीवन के आरम्भिक काल में विवाह कर लिया था किन्तु वे सांसारिक भोगों से कोसों दूर थे। महामाया ने बड़ी ही कृपापूर्वक अपने इस बालक को अपने मोहपाशों से दूर रखा था। यही कारण था कि विवाहित रहकर भी वे पूर्ण पवित्र बने रहे। उनकी इसी लोकोत्तर महत्ता के कारण युगाचार्य स्वामी विवेकान्द ने उन्हें 'महापुरुष' की गौरवमयी अभिधा प्रदान की थी। तबसे वे 'महापुरुष महाराज' के नाम से जाने जाते हैं।

स्वामी शिवानन्द सम्भवतः सन् १८५० के लगभग अग्रहायण के कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन कलकत्ता में जन्मे थे। उनके जन्म-संवत् का निश्चित विवरण नहीं मिलता। यद्यपि उनके पिता ने उनकी जन्म-कुण्डली बनवाई थी किन्तु स्वामी शिवानन्द ने संन्यासी जीवन का आरम्भ करते समय उसे गङ्गा में फेंक दिया था। स्वामी शिवानन्द का पूर्वनाम तारकनाथ घोषाल था किन्तु वे परिचितों के बीच तारक के नाम से जाने जाते थे। उनका परिवार बड़ा सम्पन्न और प्रतिष्ठित था। उनके पूर्वज श्रीयुत् हरिकृष्णघोषाल कृष्णनगर राज के दीवान थे तथा उनके पिता श्रीयुत् रामकनाई घोषाल की गिनती कलकत्ता के प्रसिद्ध वकीलों में होती थी। रामकनाई घोषाल जितने मेधावी थे उतने ही वे दयालु और परोपकारी भी थे। उनकी आय का एक बड़ा भाग निर्धन विद्यार्थियों की पढ़ाई में खर्च होता था। उनके घर में सदैव बीस-पचीस विद्यार्थी रहकर पढ़ाई करते थे। उनकी भोजन और फीस की व्यवस्था का भार रामकनाई ही वहन करते थे। कालान्तर में जब वे डिप्टी कलेक्टर बने तब उनकी आय कम हो गयी थी किन्तु कुछ ही दिनों के बाद वे कूच बिहार के सहायक दीवान बना दिये गये।

रामकनाई घोषाल एक प्रसिद्ध तांत्रिक भी थे। रानी रासमणि के कानूनी सलाहकार होने के कारण वे अक्सर दक्षिणेश्वर जाया करते थे। इसी समय उनका परिचय श्रीरामकृष्णदेव से हुआ। रामकनाई उनसे बहुत प्रभावित हुए। वे दिन श्रीरामकृष्णदेव की कठिनतर आध्यात्मिक

साधनाओं के थे। अपार भगवद्विरह में उन्हें कभी-कभी असह्य गात्र-दाह भी होने लगता था। यद्यपि रानी रासमणि के जामाता मथुरनाथ विश्वास ने उनकी चिकित्सा के निमित्त अनेक कुशल डाक्टरों से परामर्श लिया था पर उससे उन्हें कोई लाभ नहीं पहुँचा था। एक दिन श्रीरामकृष्णदेव ने रामकनाई से गात्रदाह की औषधि पूछी तब उन्होंने उन्हें बाँह पर इष्ट-कवच बाँधने का सुझाव दिया। उनके निर्देश का पालन करने पर श्रीरामकृष्णदेव का गात्र-दाह आश्चर्य-जनक रूप से कम हो गया था।

बाल्यावस्था में ही तारक में होनहारों के लक्षण दिखाई देने लगे थे। यद्यपि वे बड़े मेधावी थे किन्तु स्कूल की पढ़ाई में उनका मन नहीं लगता था। अपने-मित्रों के साथ खेलते-खेलते वे अचानक गम्भीर विचारमग्न हो जाया करते थे। वे एन्ट्रेस के बाद अधिक नहीं पढ़ सके किन्तु उनकी अन्तर्मुखता निरन्तर बढ़ती ही गयी। वे ध्यान का अभ्यास भी करने लगे। इसी समय वे ब्राह्मसमाज से प्रभावित हुए। केशवचन्द्र सेन की वक्तृताओं से आकर्षित होकर वे नियमित रूप से ब्राह्मसमाज की प्रार्थना-सभाओं में सम्मिलित होने लगे। तब तक तारक की आध्यात्मिक भूख जाग गई थी। पर ब्राह्म-समाज से उनकी भूख शान्त नहीं हुई प्रत्युत अधिक बढ़ गयी।

तारक के पिता की आय दिनों-दिन गिरती जा रही थी। परिवार को सहारा देने के विचार से तारक नौकरी खोजने में लग गये। इसी सिलसिले में उन्हें दिल्ली जाना

पड़ा। दिल्ली में उनकी भेंट अपने एक मित्र प्रसन्न के साथ हुई। वे प्रसन्न के साथ आध्यात्मिक चर्चाओं में लीन हो गये। एक दिन तारक ने प्रसन्न से समाधि के विषय में पूछा। प्रसन्न ने बताया कि समाधि एक ऐसी उच्च आध्यात्मिक अवस्था है जिसकी अनुभूति बिरले ही कर पाते हैं। उन्होंने यह भी जानकारी तारक को दी कि दक्षिणेश्वर के संत श्रीरामकृष्ण ने इस अत्युच्च अवस्था की अनुभूति कर ली है। प्रसन्न की बातों से तारक को बहुत संतोष मिला। वे विचार करने लगे कि उन्हें एक सुयोग्य गुरु का पता चल गया है तथा मन-ही मन वे कलकत्ता पहुँचकर श्रीरामकृष्ण के दर्शन करने की योजना बनाने लगे।

कुछ दिनों बाद तारक को समाचार मिला कि कलकत्ते के मेकिनान मैकेन्जी नामक कम्पनी में उनकी नौकरी लग गयी है। वे कलकत्ता लौटे। उनका घर श्रीरामकृष्णदेव के भक्त रामचन्द्र दत्त के पड़ोस में था। एक दिन उन्हें ज्ञात हुआ कि श्रीरामकृष्ण परमहंस वहाँ आनेवाले हैं। निश्चित समय पर तारक भी उनके दर्शन के लिये वहाँ पहुँचे। सन्ध्या हो चली थी। श्रीरामकृष्ण भक्तों से घिरे बैठे थे। उन्हें दैवी भावावेश हो आया था और वे अपूर्व वाणी में धर्मचर्चा कर रहे थे। तारक का हृदय उन्हें देखते ही उनके चरणों में झुक गया। वे उनकी दैवी वाणी से मुग्ध हो उठे। वे समाधि के बारे में जानना चाहते थे और श्रीरामकृष्ण उस समय समाधि-तत्त्व को ही समझा रहे थे। एक विस्मय-मिश्रित आह्लाद से तारक का हृदय परिपूर्ण हो उठा।

तारक ने श्रीरामकृष्णदेव के प्रति एक अदृष्ट आकर्षण की अनुभूति की। वे अगले शनिवार को दक्षिणेश्वर पहुँचे। उस समय संध्या हो रही थी। श्रीरामकृष्ण अपने कमरे में ही थे। तारक ने श्रीरामकृष्ण के दर्शन से एक अपूर्व अनुभूति प्राप्त की। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि मानों वे अपनी चिरकाल से बिछुड़ी हुई माता का ही दर्शन कर रहे हैं। श्रीरामकृष्णदेव ने बड़े ही स्नेह से तारक को अपने समीप बुलाया। उन्होंने तारक से पूछा, "तुम ईश्वर के किस रूप पर विश्वास करते हो? साकार पर या निराकार पर?" तारक ने बताया कि वे निराकार ईश्वर की उपासना करते हैं। तब श्रीरामकृष्णदेव बोले, "किन्तु तुम्हें तो ईश्वर की शक्ति को स्वीकार करना ही पड़ेगा।"

कालीमंदिर में सान्ध्यकालीन आरती के शंख बज रहे थे। श्रीरामकृष्णदेव जगदम्बा के दर्शन हेतु जाने के लिये तैयार हुए। उन्होंने तारक को भी अपने साथ चलने के लिये कहा। मंदिर में पहुँचकर श्रीरामकृष्णदेव ने जगन्माता की प्रतिमा को प्रणाम किया। तारक माता को प्रणाम करने में हिचकिचाये। वे ब्राह्मसमाज से प्रभावित थे। ब्राह्मसमाज ईश्वर के साकार-रूप पर विश्वास नहीं करता था तथा प्रतिमा-पूजन को अन्ध-विश्वास समझता था। किन्तु दूसरे ही क्षण विद्युत्-वल्लरी के समान तारक के मन में यह विचार कौंध गया, "मुझे ऐसे उथले विचार नहीं रखने चाहिये। ईश्वर तो सर्वव्यापी हैं। अतः वे पाषाण की प्रतिमा में भी होंगे।"

इस विचार के आते ही उनका मस्तक माता के पादाम्बुजों में झुक गया।

अपने कमरे में पहुँचकर श्रीरामकृष्णदेव ने तारक को रात में वहीं रुक जाने के लिए कहा, "तुम रात को यहाँ रुक जाओ। एक बार आने से तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। तुम्हें तो यहाँ बार-बार आना पड़ेगा।" किन्तु तारक ने अपने एक मित्र को उसके घर पर ठहरने का वचन दिया था इसलिये उन्होंने पुनः आने के लिये कहकर श्रीरामकृष्णदेव से विदा ली।

इसके बाद तारक नियमित रूप से दक्षिणेश्वर जाने लगे। अब वे युगावतार के निकटतर आ गये थे। एक दिन उनसे श्रीरामकृष्णदेव ने कहा, "देखो, जो यहाँ आता है, मैं उसके सम्बन्ध में कुछ जानने की चेष्टा नहीं करता। मैं हृदय को टटोलकर उसके विचारों को पढ़ लेता हूँ। मैंने तुम्हें देखते ही यह जान लिया था कि तुम यहीं के हो पर मैं तुम्हारे पिता और अन्य सम्बन्धियों के विषय में भी जानना चाहता हूँ।" जब तारक ने उन्हें बताया कि वे रामकनाई घोषाल के पुत्र हैं तो उन्हें बड़ा आनन्द मिला। उन्होंने उनके पिता को पुनः देखने की इच्छा प्रकट की। जब रामकनाई उनके दर्शन के लिये वहाँ पहुँचे तब उन्हें देखते ही श्रीरामकृष्ण भावाविष्ट हो गये और भावावस्था में उन्होंने उनके सिर पर अपना चरण रख दिया। रामकनाई को एक अनिवर्चनीय अनुभूति हुई और वे उनका चरण पकड़कर रोने लगे।

एक दिन श्रीरामकृष्णदेव ने तारक को एकान्त में अपने समीप बुलाया। समीप आने पर उन्होंने अपनी उँगली से

तारक की जिह्वा में कुछ लिख दिया। तारक को उस समय बड़ी अपूर्व अनुभूति हुई। उन्हें लगा कि वे एक महत्तर शक्ति द्वारा संचालित हो रहे हैं। उन्हें बोध हुआ कि सारा इन्द्रिय-गम्य जगत् तिरोहित हो गया है और वे अतीन्द्रिय लोक में विचरण कर रहे हैं। उनका मन इस अनुभूति के सागर में अधिकाधिक डूबता गया और वे अनिर्वचनीय आनन्द का आस्वादन करने लगे। जब वे प्रकृतिस्थ हुए तब श्रीराम-कृष्णदेव की अहैतुकी कृपा का स्मरण कर बार-बार उनके चरणों में कुण्ठित होने लगे।

युगावतार श्रीरामकृष्णदेव आध्यात्मिकता के ज्वलन्त विग्रह थे। उनके देवदुर्लभ अमृतमय स्पर्श से तारक की आध्यात्मिकता जागृत हो गयी थी। उनके पुनीत साहचर्य में तारक को अनेकानेक आध्यात्मिक उपलब्धियाँ हुई थीं। परवर्ती काल में उनकी कृपाका स्मरण कर वे कहा करते थे, "कभी-कभी मैं भावविह्वल होकर ठाकुर के सामने ही रोने लगता था। एक बार मैं कालीमंदिर के समीप (ईश्वर के विरहजन्य व्याकुलता से) सिसक-सिसक कर रो रहा था। उधर ठाकुर मुझे अपने कमरे में न पाकर काफी चिन्तित हो उठे थे। जब मैं उनके पास गया, वे बोले, 'जो भगवान् के लिये रोते हैं उनकी रक्षा स्वयं भगवान् करते हैं। इस-प्रकार के रुदन से पूर्व-जन्म के सारे पाप धुल जाते हैं।' एक दिन मैं पञ्चवटी में ध्यान कर रहा था। इसी बीच ठाकुर मेरे समीप आये। उन्हें देखते ही मेरी व्याकुलता फिर बढ़ गयी और मैं रोने लगा। वे चुपचाप मेरे सामने

खड़े हो गये। एकाएक अनुभूति का तीव्र प्रवाह मेरे भीतर लहराने लगा। इससे मेरा सारा गात प्रकम्पित हो उठा। मेरी यह अवस्था देखकर ठाकुर ने बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने बताया कि यह दैवी आवेश का परिणाम है। फिर वे मुझे अपने कमरे में ले गये और खाने के लिये मिठाइयाँ दीं। ठाकुर तो केवल दृष्टिमात्र से भक्त की अन्तर्निहित आध्यात्मिक शक्तियों को जगा सकते थे।")

तारक ने प्रथम दर्शन में ही श्रीरामकृष्णदेव को अपना गुरु स्वीकार कर लिया था। वे समझ गये थे कि श्रीरामकृष्ण समस्त धर्मों के सारस्वरूप हैं। उन्हें यह भी अनुभूति हुई थी कि श्रीरामकृष्ण को जानना ही ईश्वर को जानना है। उनकी भक्ति श्रीरामकृष्ण के प्रति अधिकाधिक होती गयी। तारक को श्रीरामकृष्णदेव का अतुलित स्नेह भी प्राप्त हुआ था। अनुपम स्नेह की चर्चा करते हुए उन्होंने एक भक्त को लिखा था, "मैं अभी निश्चित रूप से यह नहीं जान सका हूँ कि श्रीरामकृष्ण मानव हैं या अतिमानव, वे देवता हैं या ईश्वर? किन्तु मैंने उन्हें एक ऐसे मनुष्य के रूप में देखा है जिनका अहं पूरी तरह से नष्ट हो गया है, जो वैराग्य के उन्नतम सोपान में प्रतिष्ठित हैं, जो लोकोत्तर विवेक से सम्पन्न हैं तथा जो प्रेम के मूर्तिमान् विग्रह हैं। जैसे-जैसे मैं आध्यात्मिकता के क्षेत्र में अधिकाधिक प्रविष्ट होता गया हूँ। वैसे-वैसे मैंने श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिकता की थाह लेने की कोशिश की है। मुझे इस बात का निश्चय हो गया है कि उनकी ईश्वर से तुलना करना उनकी लोकोत्तर महत्ता

को कम करना है । मैंने उन्हें समान रूप से पापी - पुण्यात्मा, ज्ञानी - अज्ञानी, स्त्री - पुरुष के बीच अपने प्रेम को वितरित करते देखा है । वे उनकी आपदाओं को दूर करने में और उन्हें ईश्वरानुभूति प्रदान कर अनन्त शान्ति से युक्त करने में सदैव सचेष्ट रहे हैं । मैं यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि आधुनिक युग में कोई ऐसा व्यक्ति दिखाई नहीं देता जो मानव - कल्याण के निमित्त इतना सचेष्ट हो ।")

युवक तारक अपनी पारिवारिक स्थिति को सुधारने के लिये नौकरी कर रहे थे । उनके पिता की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो चुकी थी और वे अपनी पुत्री नीरदा का विवाह भी नहीं कर पा रहे थे । अन्त में उन्हें वर तो मिला किन्तु इस शर्त पर कि तारक का विवाह भी उस घर की कन्या के साथ हो । तारक को विवाहित जीवन से तीव्र घृणा थी किन्तु उनकी बहिन का विवाह इसी प्रकार किया जा सकता था । अतः तारक को बाध्य होकर यह प्रस्ताव मानना पड़ा । किन्तु तारक विवाहित जीवन व्यतीत नहीं करना चाहते थे । वे पवित्र बने रहना चाहते थे इसलिये उन्होंने विवाहित होकर भी ब्रह्मचारी रहने का संकल्प किया । जब उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव को अपना संकल्प बताया तब उन्होंने कहा, "तुम्हें किस बात का भय है ? मैं तो तुम्हारे साथ हूँ । जब तक तुम्हारी पत्नी जीवित है तब तक तो तुम्हें उसकी देखभाल करनी ही पड़ेगी । धैर्य रखो, जगन्माता सब ठीक कर देंगी ।" तारक ने श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों का पूरी तरह से पालन किया । विवाहिता होकर भी वे सांसा-

रिक सम्बन्धों से निर्लिप्त रहे। पत्नी के साथ उनका सम्बन्ध मात्र भरण-पोषण का ही था। किन्तु उनकी पत्नी अधिक समय तक जीवित नहीं रहीं। श्रीभगवान् की कृपा से तारक माया के पाशों से बचे रहे। उनका वैराग्य निरन्तर बढ़ता जा रहा था। पत्नी के देहावसान से उनका अन्तिम पाश भी कट गया। अब वे संन्यासी बनने के लिये तत्पर हो गये।

यथासमय तारक ने अपने पिता को अपना निश्चय कह सुनाया और उनसे आशीर्वाद की याचना की। रामकनाई अपने पुत्र का निश्चय सुनकर विह्वल हो उठे। उनकी आँखों से अश्रुधारा बह निकली। उन्होंने तारक से कुलदेवता को प्रणाम कर आने के लिये कहा। फिर तारक के सिर पर हाथ फेरते हुए वे बोले, "तुम ईश्वर का दर्शन करो। मैंने इसके लिये बहुत कोशिश की और संसार को त्यागने का विचार किया पर वह मुझसे सध नहीं सका। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम ईश्वर का दर्शन करो।" तारक अपने पिता के वचनों को सुनकर गद्‌गद् हो उठे। वे तत्काल दक्षिणेश्वर गये और श्रीरामकृष्णदेव को अपने निश्चय से अवगत किया। श्रीरामकृष्ण तारक के निश्चय से बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन्हें संन्यासी-जीवन बिताने की अनुमति दे दी। अब संन्यासी तारक तितिक्षा के साथ वैराग्यपूर्ण जीवन बिताते हुए आध्यात्मिक साधनाओं में लीन हो गये। वे भिक्षा के द्वारा मिले अन्न को अपने हाथों से पकाकर ग्रहण किया करते थे।

संन्यासी तारक सन् १८८५ तक दक्षिणेश्वर में ही रहे। परवर्ती समय में जब श्रीरामकृष्णदेव गले की व्याधि से पीड़ित होकर काशीपुर उद्यान में निवास कर रहे थे तब तारक भी अन्य गुरुभाइयों के साथ उनकी सेवा में जुट गये। श्रीरामकृष्णदेव अपने शिष्यों को एक नवीन तंत्र में दीक्षित करना चाहते थे। काशीपुर-उद्यान में वे उन्हें आध्यात्मिकता के साथ व्यावहारिकता की भी शिक्षा देने में संलग्न हो गये। गले की अपार कष्टप्रद बीमारी के बाव-जूद वे अपने शिष्यों से लगातार धार्मिक चर्चाएँ करते रहे। उनके उपदेशों से उनके शिष्यों के अंतराल में निहित वैरा-ग्याग्नि प्रज्वलित हो उठी और उन्होंने ईश्वर को जानने के लिये कमर कस ली।

श्रीरामकृष्णदेव के लीलासंवरण के उपरान्त उनके सभी शिष्य वराहनगर में एकत्रित हुए और नरेन्द्रनाथ के नेतृत्व में परमतत्त्व की उपलब्धि करने में लग गये। एक पुनीत अवसर पर वे सभी संन्यास-धर्म में दीक्षित हुए। इसी समय तारक को स्वामी शिवानन्द का नाम प्राप्त हुआ। संन्यासी बनने के उपरान्त स्वामी शिवानन्द के मन में संन्यासी के समान मुक्त जीवन बिताने की इच्छा हुई। वे सुदूर स्थानों की ओर भ्रमण के लिये निकल पड़े। यह उनकी कठिन तितिक्षा और तपश्चर्या का काल था। परवर्ती समय में इससे सम्बंधित घटनाओं की चर्चा करते हुए वे कहा करते थे, "कभी-कभी ऐसा समय भी आता था जब मेरे पास सरीर ढाँकने के लिये केवल एक ही धोती रहती

थी। आधी धोती को पहनकर आधी धोती से मैं शरीर ढाँका करता था। भ्रमण-काल में मैंने कभी कुएँ पर स्नान नहीं किया। चादर लपेटकर मैं धोती को धोकर सुखा लेता था। अनेक रातें मैंने वृक्षों के नीचे काटी थीं। उस समय भीतर वैराग्याग्नि धधक रही थी। शारीरिक सुविधा का विचार मेरे मन में कभी नहीं आता था। यद्यपि मैंने बिना रुपये-पैसे के दूर-दूर तक यात्राएँ कीं, किन्तु मुझे कभी खतरे का सामना नहीं करना पड़ा। ठाकुर की अलौकिक उपस्थिति का भान मुझे सदैव हुआ करता था। इस अनुभूति ने कई विपत्तियों से मेरी रक्षा की। प्रायः मेरे दूसरे दिन के भोजन का ठिकाना नहीं रहता था। मेरे मन में एक असंतोष भर जाता था और मैं ईश्वर की प्राप्ति के लिये व्याकुल हो उठता था। मैं भीड़-भाड़ से कतराता था। भीड़ भरी सड़कों से मैं बचा करता था। रात में सिर छिपाने के लिये कोइ जगह खोज लेता था और आध्यात्मिक विचारों में डूब जाया करता था।"

परिव्राजक के रूप में स्वामी शिवानन्द ने उत्तर भारत के अनेक स्थानों की यात्रा की थी। सन् १८९७ में वे स्वामी विवेकानन्द से मिलने के लिये अलमोड़ा गये थे। वहाँ से वे श्री लंका चले गये और आठ महीनों तक वेदान्त का प्रचार करते रहे। उन्होंने न्यूजीलैण्ड और आस्ट्रेलिया में भी प्रचार-कार्य का निर्देशन किया था। वे सन् १८९८ में बेलुड़ मठ लौटे। कलकत्ते में प्लेग फैलने के समय तथा दार्जिलिंग में कम्पभू आने पर उन्होंने बड़ी सफलतापूर्वक

सेवा-कार्य का संचालन किया था। इन समस्त कार्य-कलापों को करते हुए भी उनका मन सदैव ईश्वर-चिंतन में लगा रहता था। कालान्तर में वे तपस्या करने के लिये हिमालय चले गये थे तथा यदाकदा मठ आया-जाया करते थे। जब स्वामी विवेकानन्द उनसे हिमालय में मिले तब उन्होंने स्वामी शिवानन्द से अल्मोड़ा में आश्रम स्थापित करने का अनुरोध किया। मायावती अल्मोड़ा में शिवानन्द जी के प्रयत्नों से सन् १९१५ में आश्रम की स्थापना हुई थी।

भिंगा के महाराजा ने स्वामी विवेकानन्द को पाँच सौ रुपयों का दान दिया था। उसे स्वामी शिवानन्द को सौंपते हुए विवेकानन्दजी ने उनसे बनारस में आश्रम खोलने का अनुरोध किया। तदनुसार शिवानन्दजी ने बनारस में १९०२ में आश्रम स्थापित किया और वहीं रहने लगे। वे बनारस में लगभग सात वर्ष रहे। उनकी इच्छा थी कि बनारस का आश्रम तपस्या और आध्यात्मिकता का केन्द्र बन जाय। वे स्वयं अत्यन्त तपश्चर्यापूर्ण जीवन बिता रहे थे। उनका मन पूर्णतः ईश्वर को समर्पित हो चुका था। उनकी तितिक्षा अपूर्व थी। कड़ी सर्दी में भी वे एक-दो कपड़ों से गुजारा कर लिया करते थे। प्रायः वे तीन बजे रात को उठ जाया करते और हड्डियों को हिला देने वाली ठंड में धूनी जलाकर ध्यान में लीन हो जाया करते थे। शिशुओं के लिये उन्होंने वहाँ एक पाठशाला की स्थापना की थी तथा स्वामी विवेकानन्द की 'शिकागो वक्तृता' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया था।

सन् १६०६ में स्वामी शिवानन्द बेलुड़ लौटे। लगभग एक वर्ष बाद वे स्वामी तुरीयानन्द के साथ अमरनाथ की यात्रा के लिये निकल पड़े। इस यात्रा में उन्हें आँव की बीमारी लग गयी जो जीवनपर्यन्त उन्हें कष्ट देती रही। अमरनाथ से लौटने के बाद उन्हें रामकृष्ण मठ और मिशन का उपाध्यक्ष बना दिया गया। सन् १६२२ में स्वामी ब्रह्मानन्दजी के ब्रह्मलीन होने पर उन्हें अध्यक्ष का कार्यभार भी सम्हालना पड़ा। दो वर्षों के पश्चात् वे दक्षिण भारत के लम्बे दौरे पर निकले। रास्ते में उन्होंने नागपुर, बम्बई और ऊटकमण्ड में आश्रम की स्थापना की तथा भक्तों को मंत्र प्रदान किया। ऊटकमण्ड में उन्हें विशेष आध्यात्मिक अनुभूति हुई थी। वह स्थान उन्हें अच्छा लगा और वे कुछ हफ्ते वहाँ ठहर गये। वहीं उनपर दमे का भी आक्रमण हुआ। दमे से उन्हें बड़ा कष्ट होता था तथा वे रात को सो भी नहीं पाते थे। एक गम्भीर रात्रि में उन्हें विलक्षण अनुभूति हुई। उन्हें बोध हुआ कि उनका मन शरीर से अलग हो गया है। उन्हें पीड़ा का तनिक सा भी आभास नहीं हुआ। इस समय की अनुभूतियों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था, "ऊटकमण्ड में सागर के समान लहराते हुए पर्वत-शिखरों और नीलाकाश को देखने पर मुझे बड़ी विलक्षण अनुभूति हुई थी। मुझे ऐसा लगा कि मेरे शरीर से कुछ निकलकर चारों ओर फैल गया है।" यह विराटात्मा की अनुभूति थी—प्रकृति और पुरुष के तादात्म्य की अवस्था थी।

सन् १९३० के बाद स्वामी शिवानन्द का स्वास्थ्य निरंतर गिरता चला गया। फिर भी वे देह की चिन्ता त्यागकर निरंतर आध्यात्मिक अनुभूतियों में लीन रहा करते थे। श्रीरामकृष्णदेव का नमोच्चार निरन्तर उनके ओठों से होता रहता था। जब डाक्टर उनसे उनकी अवस्था के विषय में पूछते तो वे कहते, "जानकी जबतक राम का नाम लेती है तब तक वह ठीक है।" कभी-कभी वे अपने पालतू कुत्ते की ओर संकेत कर कहते, "इसका स्वामी यह (अपनी ओर बताकर) है।" फिर एक हाथ से स्वयं को इंगित कर दूसरे हाथ से श्रीरामकृष्णदेव के मंदिर की ओर संकेत कर कहते, "यह (मैं) उसका (ठाकुर का) कुत्ता है।"

स्वामी शिवानन्द भक्तों के लिये अनन्त प्रेरणा के स्रोत थे। अस्वस्थ होते हुए भी वे जिज्ञासुओं से धर्म चर्चा में लीन रहा करते थे। उनका दर्शन ही भक्तों में आध्यात्मिकता का संचार कर देता था। वे ज्ञान मार्गी थे। धार्मिक आयोजनों से बहुधा वे दूर ही रहा करते थे। उनका मन सदैव निराकार ईश्वर के चिन्तन में लीन रहता था। कट्टर ज्ञानी होते हुए भी श्रीरामकृष्णदेव के चरणों में उनकी दृढ़ प्रीति थी। परवर्ती काल में वे भक्ति-भाव की भी प्रशंसा किया करते थे। बीस फरवरी सन् १९३४ को उन्होंने महासमाधि ले ली।

वे महामानव थे। वे उस लोक से आये थे जहाँ से पैगम्बर, मसीहा और ईश्वरतनय आया करते हैं। एक बार बोधगया में तपस्या करते समय हठात् स्वामी विवेकानन्द उन्हें आलिंगन में लेकर रुदन करने लगे थे। सम्भवतः उन्हें

स्वामी शिवानन्द में भगवान् तथागत प्रतीति हुई थी। स्वामी अभेदानन्द ने श्रीरामकृष्णदेव के कथन को उद्धृत करते हुए उसकी पुष्टी की थी। श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था, "वह (तारक) उस लोक से आया है जहाँ नाम और रूप ढलते हैं।"

—c—

छिन्नोऽपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्धं।
वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम्॥
यन्त्रार्पितो मधुरतां न जहाति चेक्षुः।
क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान्कुलीनः॥

—जैसे काटा हुआ चन्दन का वृक्ष गन्ध को नहीं छोड़ देता, बूढ़ा हो जाने पर भी गजराज अपनी मन्दगति को नहीं छोड़ता, कोल्हू में पेरी हुई ईख मधुरता नहीं छोड़ देती, उसी प्रकार दरिद्र हो जाने पर भी कुलीन व्यक्ति सुशीलता आदि गुणों को नहीं छोड़ता।

— चाणक्य

मोक्ष के विविध स्वरूप और उपाय

रायसाहब हीरालाल वर्मा, अवकाश प्राप्त डिप्टी कमिश्नर

प्रत्येक मनुष्य की स्वाभाविक लालसा यही होनी है कि उसे दुःख न हो, अथवा उसके विद्यमान दुःखों का निवारण हो, और इसी दुःख के प्रतिकार में लोग भ्रम-वश सुख मानते हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि मनुष्य के मन में पहले कुछ आशा, वासना या तृष्णा उत्पन्न होती है, और उससे जब दुःख होता है, तब उसके निवारण की क्रिया में सुख का भाव होता है। जब आशा या वासना किसी विषय से सम्बन्ध रखती है, तब उसके पूर्ण होने से जो सुख मिलता है उसे विषयानन्द या वासनानन्द कहते हैं; परन्तु इस प्रकार का सुख क्षणिक और अवास्तविक होता है। असली सुख तो ब्रह्म को पहचानने में या उसके निकट जाने में मिलता है और उसीका नाम ब्रह्मानन्द है। यह सुख स्थायी होता है और उसीसे मुक्ति की उपलब्धि होनी है।

इन्द्रियजन्य दुःख दो प्रकार के होते हैं—शारीरिक और मानसिक। इसको आधिभौतिक और आध्यात्मिक भी कहते हैं। प्रत्येक पंथ में इन दुःखों से छुटकारा पाने के साधन बताये गये हैं; और मनुष्य-जीवन का चरम पुरुषार्थ भी यही समझा जाता है कि उसे जैसे हो सके परमानन्द मिले। हिन्दू शास्त्रों में मोक्ष-प्राप्ति की जो विधियाँ बतायी गयी हैं, वे कर्म-मार्ग, ध्यान-मार्ग, भक्ति-मार्ग और

ज्ञान-मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। पश्चिमी तत्त्वज्ञानी भी, जो प्रायः जड़वादी होते हैं, समझते हैं कि मनुष्य-जीवन आकस्मिक नहीं होता, वरन् उसमें गूढ़ धार्मिक लक्ष्य रहता है। इसलिये मनुष्य को यह विचार करना पड़ता है कि उसे ध्येय की प्राप्ति किस प्रकार हो। अपने जीवन को सफल बनाने के लिये उसे जो प्रयत्न करने पड़ते हैं उनकी यथासमय पूर्ति होने पर जो आनन्द मिलता है, उसीका नाम मुक्ति है। यहाँ तक तो सब तत्त्वज्ञ एकमत हैं, परन्तु उचित प्रयत्न कौन से हैं, इसके बारे में बहुत मतभेद है। इन भेदों का कारण यह है कि जिन तत्त्वों की नींव पर सब धर्मों की रचना की जाती है, वे सबको एक समान ग्राह्य नहीं हैं। इनमें से तीन मुख्य तत्त्व हैं—परमात्मा, आत्मा और प्रकृति की सत्ता तथा इनके स्वरूप। जब तक इसका निर्णय नहीं होता कि मनुष्य की आत्मा किस प्रकार की है, उसे वास्तविक दुःख होता है या नहीं, इस दुःख का क्या कारण है, और उसके निवारण में परमात्मा या प्रकृति का कुछ सम्बन्ध है या नहीं, तब तक मोक्ष के स्वरूप और उसके पाने की विधि में मतान्तर होना अनिवार्य है। इसलिये देखना यह है कि भारतीय धर्मों में मुक्ति की क्या कल्पना है:—

(१)

चार्वाक मत वाले शरीर को ही आत्मा मानते हैं, इसलिये उनका सिद्धान्त है कि यह शरीर ही प्रत्येक क्लेश का निकेतन है। शरीर के न रहने पर आत्मा का भी नाश

हो जाता है, इसलिये ऐसी आत्मा की मृत्यु के पश्चात् मोक्ष की कल्पना करना व्यर्थ है। इसी कारण जहाँ अन्य धर्मों में मानव-जीवन के चार लक्ष्य—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गये हैं, वहाँ चार्वाक मत के अनुसार उसके दो ही पुरुषार्थ हैं: अर्थ और काम। अर्थात् लौकिक सुख ही उनके जीवन का चरमलक्ष्य है और उनका सिद्धान्त है कि जब तक जिये सुखपूर्वक जिये और यदि अपने पास द्रव्य नहीं है तो ऋण लेकर घृत पिये:

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥"

(२)

चार्वाक मत के समान कुछ आधुनिक भौतिकवादियों का भी विचार है कि आत्मा का अमरत्व नितान्त असिद्ध है। परन्तु ऐसी समझ अति विषादात्मक है। यह निश्चय मनुष्य के अनुभव की कसौटी पर खरा नहीं उतरता कि मनुष्य के सामने दुःख भोगने के सिवाय अन्य कोई उद्देश्य ही नहीं है और जीवन की गुत्थियों को सुलझाने का एकमात्र उपाय मृत्यु ही है। यह कोई नहीं समझता कि हम मरेंगे, और प्रत्येक मनुष्य के हृदय में ऐसी उमंग उठती रहती है कि उसके दुःखों का अन्त अवश्य होगा; इसलिये जड़वादियों की मोक्ष की कल्पना युक्तियुक्त नहीं है।

(३)

बौद्ध दर्शन के अनुसार चार आर्य-सत्य हैं। इनमें से प्रथम सत्य है दुःख। इन दुःखों के ध्वंस का नाम निर्वाण है। परन्तु इस मत में आत्मा की कल्पना ही विचित्र है। यद्यपि बौद्ध मत वाले जड़वादियों के समान शरीर के साथ आत्मा का विनाश होना नहीं मानते परन्तु उनके सिद्धान्त के अनुसार आत्मा अनित्य है। वह दो क्षण तक भी समान रूप से स्थिर नहीं रहती। ऐसी अवस्था में, जब आत्मा का अस्तित्व ही क्षणिक है तब उसे स्थायी मोक्ष की प्राप्ति भी असम्भव है।

(४)

जैन धर्म के अनुसार जीव नित्य होने पर भी परिणाम-शील है। उसके मुक्त होने पर भी वासनाजन्य कर्म उसके शुद्ध स्वरूप को ढाँक लेते हैं, जिससे वह बद्ध पुरुष के रूप में हो जाता है। इन कर्मों से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर मोक्ष मिलता है। मोक्ष वह अवस्था है जहाँ साधक ऊपर उठने लगता है और 'सिद्धशिला' नामक लोक में पहुँचकर चरम-शान्ति का अनुभव करता है। यह 'सिद्धशिला' लोका-काश और अलोकाकाश के बीच में स्थित है। इस सिद्धान्त का यह दोष है कि परिणामशील आत्मा नित्य नहीं हो सकती, और यदि 'सिद्धशिला' ब्रह्माण्ड के भीतर है तो प्रलय होने पर उसका और उसके निवासियों का भी नाश हो जाना चाहिये। और चूँकि अकाशके बाहर कोई लोक नहीं हो सकता, इसलिये जैनियों का मोक्ष भी नित्य नहीं हो सकता।

(५)

श्रौत दर्शन में आत्मा को शुद्ध चैतन्यस्वरूप माना गया है, अर्थात् यहाँ निर्गुण ब्रह्म के आधार पर आत्मा की एकता को स्वीकार किया गया है। मृत्यु के अनन्तर जीव की जो गति होती है उसका वर्णन यहाँ इस प्रकार किया गया है:—

जो लोग ज्ञान के साथ श्रद्धा तथा तपस्या आदि शोभन कार्यों को करने वाले होते हैं, वे देवयान मार्ग के द्वारा ब्रह्म-लोक को जाते हैं। वहाँ वे आनन्द का भोग करते हुए भी अपनी उपासना का अनुष्ठान करते रहते हैं। इससे उन्हें ज्ञान की उपलब्धि होती है और वे अन्त में परब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

जो लोग इष्टापूर्त के अनुष्ठाता और कर्म-मार्ग के अनुयायी होते हैं, वे पितृयान के द्वारा चन्द्रलोक को जाते हैं और कर्मानुसार सुख भोगकर वे पुनः इस लोक में आ जाते हैं। यदि शोभन कार्य शेष रहता है तो वे धनी कुटुम्बों में जन्म लेते हैं और यदि अशोभन फल बाकी रहता है तो वे बुरे कुटुम्बों में शरीर-धारण करते हैं। परन्तु उपासना के विधिवत् अनुष्ठान से वे पुनः देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक को जा सकते हैं। इसे क्रम-मुक्ति कहते हैं। जो लोग अच्छा कर्म नहीं करते वे लोग बार-बार मरते-जीते रहते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो क्रम-मुक्ति से असंतुष्ट रहते हैं और जो इसी जीवन में मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसे लोगों को ज्ञान के द्वारा इस जगत् में व्याप्त एकता का अनुभव करना

पड़ता है। इस अनुभव के पश्चात् वे ब्रह्मरूप होकर जीवन्मुक्त की अवस्था प्राप्त करते हैं।

(६)

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष स्वभावतः असंग और मुक्त है। परन्तु अविवेक के कारण पुरुष का प्रकृति के साथ संयोग हो जाता है जिससे प्रकृतिजन्य दुःखों का उस-पर प्रतिबिम्ब पड़ने लगता है और वही पुरुष के लिये दुःख-भोग-संसार कहलाता है। इस संसार की निवृत्ति विवेक से होती है। तत्त्वाभास के फलस्वरूप पुरुष में कैवल्य-ज्ञान का उदय होना है जो संसय या विपर्यय से हीन होने के कारण विशुद्ध होना है। इस दशा में उसे इस निश्चित ज्ञान की प्राप्ति होती है कि वह क्रिया रहित है, उसमें किसीप्रकार का कर्त्तत्व नहीं है और वह असंग है। ऐसा ज्ञान होने पर उस पुरुष के साथ प्रकृति का कोई व्यापार नहीं होता, जिससे पुरुष मुक्त होजाता है। यह कल्पना वेदान्तियों की जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के समान है। परन्तु सांख्य-मुक्ति में मोक्ष की अवस्था में आनन्द का अनुभव नहीं होता क्योंकि उस सिद्धान्त में सुख-दुःख आपेक्षिक शब्द हैं और दुःख का अभाव होने पर सुख की सत्ता भी सिद्ध नहीं होती।

(७)

योगदर्शन सांख्य के पुरुष और प्रकृति तत्त्व को अपनाते हुए ईश्वर को भी मानता है। इस दर्शन के अनुसार भी "कैवल्य" उस अवस्था का नाम है जब बुद्धि के साथ पुरुष के सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है। कैवल्य का अर्थ है,

केवल अकेले रहने की स्थिति। यह स्थिति क्रियायोग और समाधि से उत्पन्न होती है। क्रियायोग के अन्तर्गत तप (चान्द्रायण व्रत आदि), स्वाध्याय (मोक्ष शास्त्रों का अनुशीलन तथा प्रणव पूर्वक मंत्रों का जप) और ईश्वरप्रणिधान सम्मिलित हैं। ईश्वरप्रणिधान का अर्थ है, भक्तिपूर्वक सब कर्मों के फलों को ईश्वर को समर्पित करना। क्रियायोग से पाँच प्रकार के क्लेश क्षीण हो जाते हैं किन्तु इनका दाह ज्ञान से ही होता है। इन पाँचों क्लेशों को अविद्या (अनात्म और दुःख में आत्म और सुख का भान करना), अस्मिता (परस्पर-भिन्न बुद्धि और पुरुष को एकात्मक मानना), राग (सुखोत्पादक वस्तुओं के प्रति लोभ), द्वेष (राग का विपरीत) और अभिनिवेश (मृत्यु का भय) कहते हैं। क्रियायोग से समाधि की भावना भी उत्पन्न होती है। यम-नियमादि का अनुष्ठान करने से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है और पुरुष को पूर्ण चैतन्य रूप की प्राप्ति होती है। निरोध के लिये वैराग्य और अभ्यास की आवश्यकता होती है। इन दोनों के सहयोग से पुरुष में संप्रज्ञात समाधि का उदय होता है। इससे 'विवेकख्याति' उपजती है जिसके कारण पुरुष को प्रकृति के गुणों से वितृष्णा उत्पन्न होती है और वह गुणों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में वैदिक तथा लौकिक विषयों के लिये चित्त में लेशमात्र भी तृष्णा नहीं रह जाती। इसी को वैराग्य कहते हैं। उसके दृढ़ होने पर, अर्थात् पर-वैराग्य के उदय के कारण विवेकख्याति के भी निरोध होने पर असंप्रज्ञात समाधि का जन्म होता है। किसी

आलम्बन के न रहने के कारण इसे ही निर्बीज समाधि कहते हैं। योगी की यही सर्वश्रेष्ठ चरम अवस्था है।

सांख्य-मुक्ति के समान पतञ्जल-कैवल्य में भी पुरुष क्लेशों और संसार से रहित तो हो जाता है परन्तु उसकी स्थिति परमानन्द की नहीं होती।

(८)

न्याय-वैशेषिक के अनुसार आत्मा नित्य द्रव्य है और यह शरीर एवं इन्द्रियों से पृथक् है। मिथ्या ज्ञान से राग-द्वेषादि दोषों का सद्भाव होता है। इन दोषों से शुभ या अशुभ प्रवृत्ति का उदय होता है जिसके कारण शरीर धारण करना पड़ता है। प्रजोत्पत्ति करने से प्रतिकूल संवेदनात्मक दुःखों की उत्पत्ति होती है। तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का ध्वंस होता है। आत्मा के नौ विशेष गुण होते हैं: बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। इन गुणों के उच्छेद से शरीरादि कार्यों का अनुत्पाद (समाप्ति) हो जाता है और तब आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। इस अवस्था में सुख का भी अभाव रहता है क्योंकि सुख एक गुण है और इसके नष्ट होने पर ही मुक्ति मिलती है। सुख के साथ राग का सम्बन्ध होने के कारण वह भी बंधन का साधन होता है। अन्य मतवालों ने इस प्रकार की मुक्ति की बड़ी दिल्लगी उड़ायी है, क्योंकि जिस मुक्त अवस्था में ज्ञान और सुख न हो वह पाषाणवत् ही है।

(६)

मीमांसा दर्शन में आत्मा कर्त्ता और भोक्ता दोनों है। वह ज्ञान या सुख रूप नहीं है किन्तु सुख, दुःख आदि गुण उसके साथ अंग-अंगी भाव से जुड़े रहते हैं। आत्मा व्यापक है तथा प्रत्येक शरीर की आत्मा अलग-अलग होती है। यह दर्शन ईश्वर को नहीं मानता, इसलिये कर्मों का फल देने वाला ईश्वर नहीं है, अपितु 'अपूर्व' है। कर्म और फल के बीच की दशा को 'अपूर्व' कहते हैं। इस दर्शन के अनुसार मोक्ष उस दशा का नाम है जहाँ इस जगत् के साथ आत्मा का सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। जहाँ वेदान्त-मत में 'जगत्विलय' को मोक्ष माना गया है, वहाँ इस दर्शन में जगत् के सम्बन्ध के विलय का नाम मोक्ष है। आत्मज्ञान पूर्वक वैदिक कर्म का अनुष्ठान करने से जब धर्माधर्म का विनाश होता है तब यह सम्बन्ध टूट जाता है। काम्य और निरुद्ध कर्म बंधनात्मक होते हैं किन्तु नित्य-नैमित्तिक कर्म बंधनात्मक नहीं होते। अच्छे कर्म करना ही मोक्ष का साधन है, किन्तु आत्मज्ञान भी मोक्ष का सह-कारी साधन हो सकता है। प्रपंच के तीन बन्धन होते हैं—इन्द्रिय, शरीर और पदार्थ। ये ही बन्धन आत्मा को जगत्-कारागार में डाले रखते हैं। जब इनके भोग का नाश हो जाता है तब भविष्य में इनकी उत्पत्ति नहीं होती। फिर आत्मा को इस भौतिक शरीर में आने की कोई आवश्य कता नहीं रह जाती। शरीर से जब सम्बन्ध नहीं रह जाता तब आत्मा अपनी व्यापकता की अवस्था में पहुँच जाती

है। इस विषय में एक मतभेद यह है कि मुक्तावस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है या नहीं। इस दर्शन का एक पक्ष कहता है कि बाह्य पदार्थों के सम्बन्धों के विलय से यद्यपि बाह्य सुख की अनुभूति नहीं होती परन्तु आत्मा के शुद्ध स्वरूप के उदय होने से आनन्द का आविर्भाव अवश्य होता होगा। दूसरे पक्ष वालों का कथन है कि शरीरहीन आत्मा को प्रिय या अप्रिय, हर्ष या शोक छू भी नहीं सकते। इसलिये मुक्त आत्मा में न कोई आनन्द है, और न विभु होने के कारण स्वर्ग या बैकुण्ठ जैसा उसका कोई निवासस्थान ही है।

(१०)

वैष्णव-तंत्र के अनुसार जीव स्वभावतः सर्वशक्तिशाली, व्यापक और सर्वज्ञ है, किन्तु सृष्टि के समय भगवान् की तिरोधान शक्ति जीव की शक्तियों का तिरोधान कर देती है जिससे जीव मल में बँध जाता है और पूर्व कर्मों के अनुसार जाति, आयु तथा भोग की प्राप्ति करता है। जीव के क्लेशों को देखकर भगवान् के हृदय में कृपा का स्वतः आविर्भाव होता है जिससे वे अपनी नैसर्गिक करुणा की वर्षा करने लगते हैं। इससे जीव के शुभ और अशुभ कर्म सम होकर फलोत्पादन के प्रति व्यापारहीन हो जाते हैं। इस दशा में वैराग्य और विवेक को प्राप्त कर जीव मोक्ष की ओर स्वतः प्रवृत्त हो जाता है।

(११)

रामानुज-दर्शन के अनुसार जीव देहेन्द्रिय, मन, प्राण

और बुद्धि से विलक्षण है। वह अजड़, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार और ज्ञानाश्रय है। जहाँ अद्वैत मत में जीव स्वभावतः एक है पर देहादि उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीत होता है, वहाँ रामानुज के मत में जीव अनन्त हैं और एक दूसरे से नितान्त पृथक् हैं। जीव ब्रह्म से भी पृथक् है परन्तु उसके शरीर है।

भगवान् नारायण के अनुग्रह से ही जीव मुक्ति-लाभ करता है। मुक्ति के लिये कर्म भी उपादेय हैं। वेदविहित कर्म के अनुष्ठान से चित्त की शुद्धि होती है। चित्त के शुद्ध होने पर ब्रह्म की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। ज्ञान, कर्म के साथ भक्ति के उदय का सहकारी कारण है। भक्ति, मुक्ति के उदय का प्रमुख कारण है और भक्ति में भी शरणागति श्रेष्ठ है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ एकरूप हो जाता है। किन्तु विशिष्टाद्वैत के अनुसार वह ईश्वर के समान होता है, अर्थात् वह उनके स्वरूप और गुण को पा लेता है किन्तु वह ब्रह्म के साथ मिलकर एकरूप नहीं होता। मुक्त जीव, जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय पर तनिक भी अधिकार नहीं रख सकता। रामानुज के अनुसार मुक्ति जीवित दशा में नहीं हो सकती। मरने के बाद बैकुंठ जाकर भगवान् का किंकर बनना ही परम मुक्ति है।

(१२)

अद्वैत वेदान्त दर्शन में जीव वास्तव में सच्चिदानंदात्मक ब्रह्मस्वरूप ही है, परन्तु वह अपने स्वरूप के अज्ञान से इस संसार में अनन्त क्लेशों को भोगता है। शंकराचार्य के

अनुसार ज्ञान ही मुक्ति का वास्तविक साधन है। साधारणतया मलिन चित्त आत्मतत्त्व का बोध नहीं कर सकता। चित्त शुद्धि के लिये भले ही काम्यवर्जित नित्य कर्म किये जायें परन्तु कर्म से वासना उत्पन्न होती है और वासना से संसार का उदय होता है। संसार के उच्छेद के लिये कर्म निर्हरण करना आवश्यक है। योग, ध्यान, सत्संग, जप और स्वाध्याय से कर्म का निर्हरण होता है। ज्ञान-प्राप्ति की क्रिया इस प्रकार है:—

सबसे पहले शिष्य को 'साधन-चतुष्टय' से सम्पन्न होना आवश्यक है। विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षा को साधन-चतुष्टय कहते हैं। षट् सम्पत्ति के अन्तर्गत शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा आते हैं। शम का अर्थ है मन को विषयों से रोकना। इन्द्रियों को रोकना दम कहलाता है। वेद और गुरु के वाक्यों पर विश्वास को श्रद्धा कहते हैं। समाधान का अर्थ है मन के विक्षेप का नाश। कर्म का त्याग करना और स्त्री की ओर न देखना उपरति कहलाता है। तितिक्षा का अर्थ शीत, क्षुधा इत्यादि को सहना है। ब्रह्मप्राप्ति और मोक्ष की इच्छा को मुमुक्षा कहते हैं। साधक में ऐसा विवेक होना चाहिये कि केवल ब्रह्म ही सत्य है और संसार असत्य है। तदुपरान्त सांसारिक और वैदिक, समस्त फलों के प्रति उसका वैराग्य होना चाहिये। फिर शम-दमादि गुणों के उदय से वह वेदान्त-श्रवण का अधिकारी बनता है। तब ब्रह्मवेत्ता गुरु उसे महा-वाक्यों का उपदेश देते हैं जिससे उसे परोक्ष ज्ञान होता है।

यह परोक्ष ज्ञान मनन, निदिध्यासन आदि योग-प्रक्रियाओं के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी अवस्था का नाम मोक्ष है। ज्ञान हो जाने पर भी मनोनाश और वासनाक्षय का अभ्यास करना पड़ता है क्योंकि जब तक दीर्घकाल तक मनोनाश का अभ्यास नहीं किया जाता तबतक जीवन्मुक्ति का फल नहीं मिलता। श्रवण, मनन और निदिध्यासन तत्त्वज्ञान के साधन हैं। योग मनोनास का साधन है। विरोधी वासना को उत्पन्न करना वासनाक्षय का उपाय है। शुभ वासनाओं को पैदा करना भगवान् की भक्ति करने का हेतु है। इसके अन्तर्गत भगवान् की उपासना के दो प्रकार बताये गये हैं— पहला है कृतोपासन, अर्थात् जिसने उपासना सिद्ध कर ली है। दूसरा है अकृतोपासन, अर्थात् जिसने उपासना की सिद्धि नहीं की है। जो भक्त अपने उपास्य देव का सक्षात्कार करते तक उपासना करते हुए ज्ञान में प्रवृत्त होते हैं वे कृतोपासक कहलाते हैं। ऐसे भक्त का मनोनाश और वासनाक्षय अत्यन्त दृढ़ होता है, इसलिये उन्हें तत्त्वज्ञान होने के बाद ही जीवन्मुक्ति की अवस्था स्वतः सिद्ध हो जाती है। इसीसे गोस्वामीजी ने भक्ति मार्ग को प्रधान कहा है। परन्तु ऐसे भक्त बहुत कम होते हैं। ज्ञान मार्ग वाले पहले भक्ति को दृढ़ नहीं करते। वे उत्सुकतापूर्वक शीघ्रता से ब्रह्मविद्या में प्रवृत्त होते हैं। श्रवण, मनन और निदिध्यासन से उन्हें तत्त्वज्ञान भले ही हो जाये परन्तु उन्हें वासनाक्षय और मनोनाश का दृढ़ अभ्यास नहीं होता। इसलिये तत्त्वज्ञान हो जाने के बाद भी इन्द्रियाँ

वश में नहीं होतीं। इन्द्रियों को काबू में लाने के लिये, अर्थात् जीवन्मुक्ति के सुख को स्थिर रखने के लिये मृदु उपाय करना लाभदायक होता है। यह उपाय है हरि की भक्ति, जिसके बिना मोक्ष का सुख स्थिर नहीं रह सकता। हरि-भक्ति का अर्थ है हरि के भजन से लेकर आत्मज्ञान और आत्मप्रीति। श्री मध्वाचार्य ने भी अपनी पुस्तक 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय' में बतलाया है कि भगवान् की निश्चल महत्ता के ज्ञान से उत्पन्न प्रेम को ही भक्ति कहते हैं।

(१३)

ऊपर दिये गये रामानुज-दर्शन और अद्वैत वेदान्त-दर्शन के मोक्ष के साधन-मार्ग से विदित होगा कि जिन सिद्धान्तों में मोक्ष का मुख्य कारण भक्ति है उनमें जीवात्मा वैकुण्ठ जाकर भगवान् के समागम या सान्निध्य का आनन्द लेता है। और जिन दर्शनों में यह माना गया है कि दुःख का कारण अज्ञान है वहाँ यह बताया गया है कि इसी जीवन में उचित ज्ञान हो जाने से जीवन्मुक्ति मिल सकती है। परंतु जीवन्मुक्ति के स्वरूप के विषय में सबका मत एक-सा नहीं है। कुछ दार्शनिक, जैसे न्याय-वैशेषिक, मोक्ष को केवल दुःख की निवृत्ति की अवस्था मानते हैं, परन्तु वेदान्त-मत में बताया गया है कि मुक्ति में आनन्द की उपलब्धि अवश्य होती है।

(१४)

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने ग्रन्थ 'रामचरित मानस' में एक अनोखी युक्ति बतलायी है। वह यह है —

"सगुनो पासक मोक्ष न लेहीं।
तिन कहं राम भगति निज देहीं।।"

(लं.का. १११।३)। इसका मतलब यह है कि श्रीरामजी के सगुण रूप की भक्ति करने वाले भक्ति के सुख को स्वर्ग के सुख से ज्यादा अच्छा समझते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि मन इसी स्थूल शरीर में भगवान् में तल्लीन हो जाये, तो उससे जो सुख मिलता है वह लिंगशरीर के साथ बैकुण्ठ में रहने के सुख से अधिक है। सगुणोपासक को जीवन्मुक्ति मिल ही नहीं सकती। उसे तो केवल वैकुण्ठ या क्रम-मुक्ति ही मिलती है। इस चौपाई में 'सगुण' शब्द इस बात का बोधक है कि निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वालों को ही मोक्ष मिलता है। इसका कारण यह है कि ऐसी भक्ति आत्मज्ञान द्वारा होती है जिसे आत्मानुसंधान भी कहते हैं। सगुण भक्ति वालों में से श्री भरतजी ने भी तीर्थराज प्रयाग से यह वर माँगा था —

"अर्थ न धरम न काम रुचि गति न चहहुँ निर्बान।
जन्म जन्म रति राम पद यह बरदानु न आन।।"

(अ. का. २०४)

और अन्त में गोस्वामी जी ने 'मानस' की कथा समाप्त करके कहा है—

"रामचरन रति जो चह अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवण पुट पान।।"

(उत्त. का. १२८)

अर्थात् उनके मत में मानव-पुरुषार्थ दो हैं—पहला, श्री-रामजी के चरणों में प्रेम; और दूसरा, मोक्ष पद का चाहना।

एक सगुण भक्ति का सूचक है और दूसरा निर्गुण का फल।

यह सिद्धान्त तुलसीदास जी की कोई नयी खोज नहीं है। श्रीमद्भागवत के ११वें स्कन्ध के १४ वें अध्याय में भी कहा गया है, "जिसने अपनी आत्मा मुझे (श्रीकृष्ण को) अर्पित कर दी है उसे न तो ब्रह्मासन की आकांक्षा है और न इन्द्रासन की; वह न अखिल विश्व के सार्वभौम राज्य को चाहता है और न पाताल के स्वामित्व को ही। यहाँ तक कि वह पुनर्जन्म से छुटकारा पाने की इच्छा भी नहीं रखता। उसे तो मेरे सिवा अन्य किसी की इच्छा ही नहीं होती।"

यह सिद्धान्त अनोखा भले ही मालूम हो परन्तु ऐसा नहीं है। यदि भरतजी की ऐसी कांक्षा थी कि वे जन्म-जन्मान्तर तक श्रीरामजी के चरणों में प्रेम करते रहें तो यह भक्ति सकाम है। सकाम भक्ति जिस हेतु से की जाती है उसका वैसा ही फल मिलता है। किन्तु निष्काम भक्ति में कोई हेतु नहीं रहता। इसलिये गोस्वामी जी ने समझाया है कि जिस प्रयत्न से ज्ञानी को मोक्ष मिलता है, यानी ऐसा प्रयत्न जिसमें किसी प्रकार की इच्छा नहीं रहती, उसीप्रकार यदि श्रीरामजी का भजन भी बिना किसी इच्छा के किया जाये तो मोक्ष आप से आप आ जाता है —

"अति दुर्लभ कैवल्य परमपद।
संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजन सोई मुकुति गोसांई।
अनइच्छित आवइ बरिआंई॥

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥"

(उ. का. ११८)

ज्ञान हो जाने पर जब मनुष्य की मुक्ति हो गयी और यह निश्चय हो गया कि उसे भावी देह नहीं मिलेगी तब उसे जीवन्मुक्त अवस्था का सुख कायम रखने के लिये भक्ति की जरूरत क्यों होती है ? इस रहस्य को समझने के लिये जीवन्मुक्ति की अवस्था को जानना चाहिये। इसपर श्री विद्यारण्य स्वामी ने अपनी पुस्तक 'जीवन्मुक्ति विवेक' में इस प्रकार प्रकाश डाला है— गीता (२, ६०, ६१) में बतलाया गया है कि 'यत्न करते हुए विद्वान् पुरुष को भी व्याकुल करने वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से उसके मन को हर लेती हैं। उन सब इन्द्रियों को भली-भाँति रोककर मुझ (कृष्ण) में विश्वास कर एकाग्रचित्त हो ओ, क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ अपने आधीन हैं, उसकी ही बुद्धि स्थिर कहलाती है।' विद्वान् पुरुष वह है जिसे अपने स्वरूप का वैसा ही ज्ञान हो जैसा अज्ञानी को अपनी देह का होता है। ऐसा तत्त्वज्ञान होने पर भावी जन्म के हेतुभूत कर्म, जिन्हें अनारब्ध कर्म कहते हैं, नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि वे अविद्या के कार्य होते हैं।

प्रश्नः-यदि तत्त्वज्ञान से ही भावी देह रोकी जा सकती है तो फिर जीवन्मुक्ति-अवस्था को प्राप्त करने के लिये श्रम क्यों किया जाये ?

उत्तरः- तत्त्वज्ञान होने पर प्रारब्ध कर्मों का भोग बन्द नहीं होता। जीवन्मुक्ति उसे कहते हैं जब जीवित पुरुष के चित्त से कर्त्तापन, भोक्तापन, सुख-दुःख आदि अन्तःकरण के क्लेशों का निवारण हो जाये।

प्रश्नः- यह निवारण किसका होता है? साक्षी आत्मा का या अन्तःकरण का?

उत्तरः-साक्षी की भ्रान्ति तो तत्त्वज्ञान होने पर ही निकल जाती है। सुख-दुःख वाली वृत्तियों को वश में करके अन्तःकरण का निवारण किया जाता है। जीवन्मुक्ति की अवस्था सुख की हेतु है, पर वह साक्षात् सुख को उत्पन्न नहीं कर सकती। इसलिये शास्त्र सम्मत पुरुषार्थ करना पड़ता है। इसकी विधि यह है कि सत्संग के द्वारा चित्तरूपी अशुभ वासनाओं को दुःसंग से रोका जाये और विपरीत आचरणों से बचा जाये यह मृदु उपाय है। प्राणा-याम आदि कठिन उपाय हैं जिनसे मन देर में वश में होता है। मृदुउपाय के द्वारा जब चित्त में शुभ वासनाओं का उदय सहज-भाव से हो तब समझना चाहिये कि अभ्यास सफल हुआ। ऐसा करते-करते जब अन्तःकरण का मल नष्ट हो जाता है तब उन वृत्तिओं के निरोध का अभ्यास करते हुए शुभ वासनाओं को भी त्याग देना चाहिये। इसके बाद केवल स्वरूप में स्थिरता हो जाती है। इसीलिये गीता (२। ६०, ६१) में कहा गया है कि भगवान् के शुभ चिन्तन से ही बुद्धि स्थिर होती है। 'मानस' की ऊपर उद्-धृत चौपाइयों का यही अभिप्राय है कि मोक्ष का सुख हरि

की भक्ति के बिना स्थिर नहीं रह सकता। इसीलिये योग-वाशिष्ठ में भी कहा गया है कि तत्त्वज्ञान के साथ साथ वासनाक्षय और मनोनाश की क्रिया भी करते रहनी चाहिये। यदि भगवान् के चरणों में मन लग गया तब मन फिर इधर-उधर नहीं जाता। अर्थात् मन का क्षय हो जाता है। तब भगवान् से अधिक प्रिय कोई और वस्तु नहीं रह जाती, इसलिये वासनाओं का भी क्षय हो जाता है। इससे सिद्ध है कि स्थायी ब्रह्मानन्द लाभ करने का सबसे सरल उपाय है—

"सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

(गीता १८-६६)

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

कुरीति के अधीन होना कायरता है, उसका विरोध करना पुरुषार्थ है।

—महात्मा गाँधी

यमुनोत्री से गोमुख

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

वास्तव में आगे का रास्ता कल्पनातीत अच्छा था। ज्यादा उतार-चढ़ाव नहीं था। सुरम्य लतिकाओं और गुल्मों से वेष्टित वृक्षों की घनी छाया के बीच से मार्ग गया था। मार्ग के दोनों ओर देवदार के सघन बन थे। गंगा थोड़ी दूरी में बह रही थी। उसका गंभीर निर्घोष सारे वातावरण में गुञ्जित हो रहा था। मैंने चारों धामों के मार्गों में अद्भुत विविधता देखी। सबका सौंदर्य वैभिन्य लिए हुए या। बद्रीनाथ के मार्ग में आकाश की ऊँचाई नापने वाले गिरिश्रृंगों की भव्यता देखी। अलकनंदा का तांडवकारी नर्तन देखा। केदारनाथ के मार्ग की सुरम्य वनस्थली का वर्णन ही नहीं किया जा सकता। अनंत प्रकार की सुमन-लतिकाओं को वक्ष में छिपाए हुए, सौरभ बिखेरते हुए वह नन्दनकानन तो भगवती उमा का क्रीड़ास्थल ही रहा है। यमुनोत्री के बीहड़ एवं दुरूह मार्ग में चीड़ के वृक्षों की सघन छाया के बीच बहती हुई कलिंदसुता का मनोहारी कलनाद सुना। तो गंगोत्री के मार्ग में हिमवान की भव्यता और गंगा के प्रलयंकर प्रवाह के बीच निसर्ग की सौम्य सुषमा का आकंठ पान किया।

उन अनुपम दृश्यों को देखते देखते हम लोग सात बजे गंगोत्री पहुँच गए। वहाँ पंजाब-सिंध क्षेत्र की धर्मशाला में

एक कमरा मिल गया। दो कंबल भी मिल गए। थोड़ी देर विश्राम करके हम लोग भागीरथी के तट पर पहुँचे। धराली के पश्चात् अब 'भागीरथी का स्पर्श हो पाया। जल हिमवत् था। हाथ-मुँह धोकर मंदिर में दर्शन के लिए पहुँचे। उस समय पूजा आरंभ होने ही वाली थी। प्रतिमाओं का शृंगार किया गया था। गङ्गाजी की प्रतिमा के साथ लक्ष्मी, अन्नपूर्णा, यमुना, भागीरथ आदि की भी प्रतिमाएँ थीं। प्रसाद लेकर हम लोग वापस लौटे और पास की चट्टी में भोजन करके सो गए।

सुबह देर तक सोते रहे। गंतव्य में पहुँचने के कारण हृदय में शांति का अनुभव हो रहा था। धर्मशाला के पास से ही गंगा बह रही थी। उठकर गंगातट पर आ गया। प्राची से भुवनभास्कर की लाल लोहित किरणें गंगा के निर्मल स्फटिक जल में नृत्य कर रही थीं। नदी के दोनों ओर देवदार के सघन वन के उस पार हिममंडित शिखर ध्यान मग्न ऋषियों की तरह अपूर्व शांति का साम्राज्य फैला रहे थे। दूर, सुदूर से गंगा आती हुई दिखाई दे रही थी। हाँ, उधर ही तो गोमुख है, जहाँ गंगा हिमकंदरा से निकलती है। कहते हैं कि गंगा उससे भी आगे चौखंभा पर्वत-श्रेणी से निकली है और अन्दर ही अन्दर बहती हुई गोमुख के पास बाहर निकली है। क्या गोमुख जाना संभव हो सकेगा, मन में विचार कौंधा। पर धर्मशाला के मैनेजर ने पूरी तरह हतोत्साहित कर दिया। उनके कथनानुसार मेरे पास पर्याप्त कपड़े नहीं थे जो उधर की शीत सहन कर सकते।

मेरा रबर का जूता भी चार धामों की यात्रा करके मोक्ष-लाभ करने के लिए दिन गिन रहा था। फिर मेरे टेरीलीन के वस्त्र उस भयानक शीत में शरीर को ब्रह्मलीन करा देने में पूर्ण सहायक हो सकते थे। उनकी बात सुनकर मैं मन मार-कर रह गया।

सामने नदी के दूसरी ओर कई कुटिया नजर आ रही थीं। वहाँ वीतरागी साधुओं के निवास थे। स्नान के पश्चात् उधर जाने का निश्चय किया। इतने में सेनदादा भी आ गये। बड़ी देर तक हम लोग उस मधुर धूप का आनन्द लेते रहे।

भागीरथी में स्नान करना भी अति दुष्कर कार्य था। यमुनोत्री में तो प्रकृति ने अनुकंपा कर गरम जल का प्रबन्ध कर दिया था पर यहाँ तो जल हिमवत् था। यहाँ प्रवाह भी तीव्र था पर गहराई मुश्किल से दो-तीन फुट होगी। फिर इसके अन्दर अनेक शिव नासिकाग्र किए हुए समाधिस्थ थे! डुबकी लगाते समय ऐसे दो-चार शिवों से भेंट होने पर मस्तक का भंग समारोह होने में देर न थी। इसलिए लोटे द्वारा ही स्नान का माहात्म्य लूटने का प्रयत्न किया। जिस अंग में जल पड़ता, ऐसा प्रतीत होता, रुधिर-प्रवाह बन्द हो गया है। जय गंगे बोलते समय जय गं ··· के आगे का शब्द मानों महाशून्य में लीन हो जाता और वापस तब आता जब जल शरीर से प्लावित हो जाता। चंद ही मिनटों में मैंने इस शुभ कर्म से छुट्टी पा ली। सेनदादा ने मानसिक स्नान किया और गंगा का जल छिड़ककर अपने गात्र पवित्र किए।

नदी के इस पार आने के लिए गंगाजी पर पुल बना हुआ है। कुछ आगे एक हिमानी नदी पहाड़ों से उतरती हुई इसमें आकर मिलती है। इसे केदारगङ्गा कहते हैं। वह केदारनाथ के पास से बहते हुए आती है। उस पर भी छोटा सा पुल है। उसे पारकर इधर के क्षेत्र में पहुँचा। इधर मौनी बाबा, व्यासदेव, स्वामी सुन्दरानन्द आदि के आश्रम हैं। पर इनके दर्शन का सौभाग्य नहीं मिला। व्यासदेव का योग निकेतन बहुत सुन्दर बना हुआ है। साधकों के लिए छोटे छोटे सुन्दर कमरे बनाए गए हैं। पर अभी वहाँ कोई न था। एक और आश्रम था, स्वामी ब्रह्मविद्यानन्द तीर्थ का। वहाँ पहुँचते ही स्वामीजी के दर्शन हुए। उनका भरा हुआ चेहरा, उन्नत ललाट, श्वेत दाढ़ी-मूँछों से युक्त मुखमंडल देखकर वेदकालीन ऋषियों का स्मरण हो आया। मैंने झुककर प्रणाम किया। वे कुशल क्षेम पूछने लगे — कहाँ से आये ? कहाँ ठहरे हो आदि। मैंने पूरा हाल कह सुनाया। उन्होंने कहा, "कहाँ धर्मशाला में ठहरे हो ? यहीं आ जाओ। देखो, कितना पवित्र वातावरण है।" उनकी बातों में इतनी आत्मीयता थी कि मैं नाही नहीं कर सका। शाम को आऊँगा कहकर मैंने उनसे बिदा ली। पास में ही गौरीकुण्ड है। यहाँ पर भागीरथी का जल आठ-दस फुट नीचे कुण्ड में बड़ी तीव्रता से गिरता है और वहाँ से चक्कर खाता हुआ बाहर निकलता है। वहाँ एक प्रपात का सा सुन्दर दृश्य उपस्थित हो रहा था। जल फेनिल हो रहा था और उसकी गंभीर आवाज चारों ओर गूँज रही थी।

धर्मशाला में जब पहुँचा, तब अन्यमित्रों के साथ दत्त-बाबू भी पहुँच गए थे। उनसे बातचीत के दौरान मालूम पड़ा कि उन्होंने गोमुख जाने की योजना रद्द कर दी है। वे लोग दूसरे दिन वापस लौटने वाले थे। मेरी इच्छा वहाँ पर तीन-चार दिन रुकने की थी। अतः मैंने स्वामीजी के पास ठहरने की बात कहकर उनसे बिदा ली और स्वामी जी के पास चला आया। बाद में यमुनोत्री, गंगोत्री के सहयात्री द्वय से मुलाकात नहीं हुई। जब मैं वापसी में उत्तरकाशी पहुँचा, तो मालूम हुआ कि वे तीन दिन हुए कलकत्त के लिए रवाना हो चुके हैं। उनके सान्निध्य की मधुर स्मृतियाँ अभी तक बनी हुई हैं।

शाम के समय स्वामीजी से मिलने दस-बारह व्यक्ति पहुँचे। उनके साथ दो महिलाएँ भी थीं। ये लोग आज ही गंगोत्री पहुँचे थे। कुंडू बाबू इस दल के नेता थे। वे कलकत्ते से पार्टी लेकर यात्रा के लिए निकले थे। वे गोमुख की यात्रा करना चाहते थे। इसलिए सलाह लेने स्वामीजी के पास आये थे। उनके साथ दलीपसिंह गाइड था। गंगोत्री में दलीपसिंह ही एक मात्र गाइड था जो गोमुख की यात्रा करा लाता था। उसकी आँखों में गजब की चमक थी और चेहरे में अजीब दृढ़ता। स्वामीजी ने कहा, "जब दलीपसिंह साथ है तब चिंता की कोई बात नहीं। जरूरत पड़ने पर वह आदमी को उठाकर ले जा सकता है। वह बड़े जीवट का आदमी है।" स्वामीजी ने फिर बताया कि किस प्रकार उन्होंने दलीपसिंह और कई व्यक्तियों के साथ

गोमुख के रास्ते से बद्रीनाथ की यात्रा की थी। चार दिनों में यात्रा पूरी हुई थी। उन्होंने बताया कि गोमुख यहाँ से १३ मील दूर है। नदी के किनारे किनारे जाना पड़ता है। मार्ग खतरनाक है। यहाँ से आठ मील की दूरी पर चीड़-बासा नामक स्थान है। वहाँ पर चीड़ के बहुत से वृक्ष हैं इसीलिए उसे चीड़बासा कहते हैं। वहाँ एक छोटी सी झोपड़ी है। यात्रीगण गंगोत्री से जाकर वहाँ रात्रि विश्राम करते हैं और दूसरे दिन प्रातःकाल गोमुख जाकर दस बजे दिन तक वापस चीड़बासा लौट आते हैं। ग्यारह बजे के बाद रवि-रश्मि से भूस्खलन शुरू हो जाता है इसीलिए हर हालत में ग्यारह बजे के पूर्व चीड़बासा लौट आना चाहिए। फिर चीड़बासा में पुनः रात्रि यापन कर दूसरे दिन सबेरे गंगोत्री वापस आ सकते हैं। चीड़बासा में भयानक ठंड है। अतः साथ में प्रचुरमात्रा में गरम कपड़े ले जाना आवश्यक है क्योंकि वहाँ दो रातें काटनी पड़ती हैं। वहाँ पर जलाने के लिए लकड़ियाँ भी मिल जाती हैं।

गोमुख जाने की मेरी इच्छा पुनः बलवती हो उठी। मैंने उनके साथ चलने की बात कही। दलीपसिंह ने असमर्थता व्यक्त की। वह एक साथ आठ व्यक्तियों से ज्यादा लोगों को नहीं ले जाता था। फिर चीड़बासा के झोपड़े में आठ व्यक्तियों का ही रहना मुश्किल काम था। अतः पुनः नैराश्य की घटा मानस में छा गई। उनके जाने के बाद स्वामी जी से गोमुख देखने की तीव्र अभिलाषा व्यक्त की। वे कुछ देर सोचते रहे; फिर बोले, "अच्छा, दिन में अधिक से अधिक

कितना चल सकते हो ?" मैंने बताया इसके पहले दिन ही २१ मील चलकर गंगोत्री पहुँचा हूँ। कुछ देर मौन रहकर उन्होंने कहा, "तो ऐसा करो, कल सबेरे ही गोमुख के लिए निकल जाओ। कहीं रुकना मत। उस स्थल के दर्शन करके ग्यारह बजे के पूर्व ही वहाँ से रवाना हो जाना। शाम तक यहाँ वापस आ जाओगे। छब्बीस मील की दुर्गम यात्रा है, अच्छी तरह विचार कर लो।" मेरे अन्दर उत्कट इच्छा हिलोरें ले रही थी। मैंने कहा, "आपके आशीर्वाद से मैं हो आऊँगा।"

उस दिन रात को मैं गहरी नींद सोया। स्वामीजी ने पाँच बजे जगा दिया और बोले, 'जल्दी मुँह धो ले। चाय तैयार है।' उनको मेरे लिए इतना कष्ट उठाते देख हृदय गदगद हो गया। एक झोले में कुछ रोटी और सब्जी रख-कर वे बोले, "रास्ते में खा लेना।" सवापाँच बजे मैं वहाँ से निकल पड़ा। आकाश निर्मल था। बड़े कड़ाके की ठंड थी। मैंने गले और सिर को मफलर से अच्छी तरह लपेट लिया था। फिर भी हवा कानों को छेदती हुई प्रतीत होती थी। वातावरण में अनुपम शांति विराज रही थी। आगे चढ़ाई ही चढ़ाई थी। तेजी से कदम बढ़ाता हुआ मैं चलता गया अब देवदार के वृक्ष पीछे छूट गए थे। सामने और नदी के दोनों किनारों पर भव्यता लिए हुए हिमाच्छादित शिखर थे। भागीरथी सकरी घाटी में बह रही थी। नदी के किनारे बर्फ से ढके पहाड़ पर से चलना पड़ रहा था। पैर चिकनी बरफ पर से फिसल-फिसल जाता। इसलिए

पहले लकड़ी से बर्फ में गड्ढा बनाकर चलना पड़ता था। मार्ग कहीं-कहीं पर अत्यंत खतरनाक था। पर्वत सीधे थे और नीचे घाटी में गंगा। ऐसे स्थलों पर पहाड़ की ऊँचाई पर सावधानी से बैठ-बैठकर बर्फ में चलना पड़ा। चार मील के पश्चात् एक अद्भुत दृश्य दृष्टिगोचर हुआ। आमने-सामने के दो पहाड़ों से दो ग्लेशियर निकलकर गंगा में जा मिले थे। मानों एक पर्वत से सामने के पर्वत तक गंगा में बर्फ का विशाल पुल बना हो। बर्फ के नीचे से गंगा बही जा रही थी। कुछ दूर जाने पर एक और हिमानी नदी मिली जो गंगा से आ मिली थी। वहाँ पर भी गंगा के ऊपर काफी दूर तक बर्फ जमी हुई थी। उसमें एक विशाल चट्टान ऊपर से आ गिरी थी। उसका दो-तिहाई भाग हिम के अंदर और एक तिहाई बाहर था। मार्ग विकट था। ठोस बर्फ के ऊपर नरम बर्फ जम गई थी जो और खतरनाक थी। उसमें पैर तेजी से फिसलता था।

लगभग आठ बजे चीड़बासा पहुँच गया पर वहाँ रुके बिना ही आगे बढ़ गया। आगे का मार्ग और भी विकट था। गंगा के किनारे पहाड़ के ऊपर चलना अब और खतरनाक हो गया था क्योंकि हर क्षण पैरों के फिसलने का भय बना हुआ था। अतः पहाड़ की काफी ऊँचाई से चलना शुरू किया। मार्ग की दुरूहता देखकर मन पीछे हटने लगा। कई बार विचार आया कि वापस लौट चलूँ। पर कोई अज्ञात आकर्षण पैरों को खींचे ले जा रहा था। कुछ दूर जाने पर भोजपत्र के वृक्ष मिले। यही भुजबासा कहलाता

है। यह चीड़बासा से दो मील दूर है। अब गन्तव्य मात्र तीन मील बाकी रह गया था। अभी साढ़े नौ बज रहे थे। यहाँ पर कुछ देर विश्राम करके मैंने भोजन कर लेना आस्वादन उचित समझा।

आगे वनस्पति का नामोनिशान न था। चारों ओर जिधर दृष्टि जाती, विशालकाय उत्तुङ्ग गिरि-शृंखलाएँ शुभ्र-श्वेत हिम का परिधान ओढ़े हुए चिर-समाधि मग्न ऋषियों की भाँति प्रतीत हो रही थीं। सूर्य की प्रखर रश्मि में उनकी यात्रा और भी प्रदीप्त हो उठी थी। कहीं भी आँखें नहीं टिक रही थीं। एकमात्र हर-हर की गंभीर ध्वनि वायुमंडल में गुञ्जित हो रही थी। पहाड़ों के मध्य से विहँसती सी सुरसरि बही जा रही थी। ऐसा प्रतीत होता था कि अखिल भुवनेश्वरी,राजराजेश्वरी गंगा मंद-मंथर गति से आगे बढ़ रही है और महामहिम ऋषिगण मार्ग के दोनों ओर सश्रद्ध भाव से खड़े उसका स्तुतिगान कर रहे हैं। अनुपम दृश्य था वह जिसका वर्णन असंभव है। आगे अनेक हिमानी नदियों को चलकर पार करना पड़ा। ऊपर तो बर्फ ज़मी थी, पर नीचे पानी बहने की गड़गड़ाहट हो रही थी। बर्फ पर अच्छी तरह लकड़ी जमाने के बाद पैर रखकर चलना पड़ता था क्योंकि पता नहीं था कि कहाँपर बर्फ पोली है। कुछ देर बाद अचानक हर-हर की जोरों से ध्वनि हुई और मेरे कुछ आगे से ही एक विशाल हिमखंड लुढ़कता हुआ नीचे जा गिरा। मैं बाल बाल बचा। पर हृदय आतं-कित हो उठा। भूस्खलन प्रारंभ हो गया था। ईश्वर का

नाम लेते हुए आगे बढ़ा। उस एकाकी निर्जन प्रदेश में जहाँ एक पक्षी तक देखने में नहीं आता, एकमात्र प्रभु ही संबल थे। साढ़े दस बज चुके थे पर गोमुख का पता नहीं था। हर हर की ध्वनि क्रमशः चारों दिशाओं से गुञ्जित होने लगी थी। बाद में ज्ञात हुआ कि वह गंगाकी ध्वनि नहीं वरन् दूर में टूटकर गिरने वाली पर्वत शिलाओं की आवाज है। उस भीषण ठंड में भी चलाई के कारण गरमी महसूस हो रही थी। मैं पर्वत के ऊपर ही था कि एकाएक अभूत पूर्व दृश्य दृष्टिगोचर हुआ। चारों ओर जगमगाते हुए गिरिश्रृंग हैं और गंगा एक हिम कन्दरा से निकल रही है। उसके ऊपर बर्फ पर्वताकार बढ़ती गई है। यही गोमुख था। मैंने पहाड़ की ढाल पर धीरे धीरे खिसकना शुरू किया। नीचे की चट्टान की बर्फ गरमी से पिघल चुकी थी। अपूर्व दृश्य था वह। गंगा के ऊपर बनी हुई वह हिमगुफा क्रमशः ऊँची होती चली गई थी। ऐसा प्रतीत होता था कि ये हिम-श्रृंग आकाश के साथ एकरूप हो गये हैं। उस ओर दुर्भेद्य दीवार की भाँति गिरि-श्रृंखलाएं फैली हुई थीं। नीचे से स्फटिक के समान शुभ्र-स्वच्छ जल बहा आ रहा था।

यह शोभा निहार ही पाया था कि न जाने कहाँ से घने बादल आकाश में छा गए। क्षण भर पहले चाँदी की भाँति जगमगाते शिखर बादलों की ओट में छिप गए। सूरज को भी सघन मेघराशि ने अपने अंक में छिपा लिया। पाँच मिनट में ही चारों ओर अंधकार-सा व्याप्त

हो गया। मैं कुछ सोच भी नहीं पाया था कि हिमवर्षा प्रारंभ हो गई। रुई के रेशे की तरह अगणित कण शरीर को आ-आकर लगने लगे। इस अप्रत्याशित घटना से मैं बेहद घबरा गया। क्षण भर में चारों ओर भूमि हिम से ढँक गई। हिमकण कपड़ों में चिपक रहे थे। तापमान एकदम गिर गया। चेहरे और हाथ-पैर ठिठुरने लगे। मैं सहारे के लिए किसी स्थान की खोज में इधर से उधर दौड़ने लगा। अचानक एक शिलाखंड दीख पड़ा जो बाहर की ओर निकला हुआ था। उसके अंदर घुसकर बैठ गया। हिमपात क्रमशः बढ़ रहा था। सामने का दृश्य दिखाई नहीं पड़ता था। दस मिनट में ही सामने दो फुट ऊँची बरफ की परत जम गई। हाथों में सिकुड़न होने लगी। मैं किसी तरह हथेलियों को रगड़ते हुए उन्हें गरम करने का वृथा प्रयास करने लगा। जब आधा घंटे तक हिमपात बंद नहीं हुआ तब गहरी हताशा ने मुझे घेर लिया। उस भयानक हिमवर्षा के बीच ही बाहर निकला। चारों ओर नीलिमा लिए हुए श्वेत चादर बिछ गई थी। जिधर जाना दुर्भेद्य पर्वत ही दिखाई पड़ते। मैं मार्ग भटक गया भूल गया कि किसमार्ग से मैं उधर आया पुनः आकर उसी खोह के अंदर बैठ गया। बर्फ का गिरना जारी था। चारों ओर नीलिमा बढ़ती जा रही थी। ऐसा लगने लगा, मानों हिम पर नीला रंग चढ़ गया हो। धीरे धीरे तन्द्रा सी आने लगी। मन में विचार उठने लगा कि थोड़ी देर सो जाऊँ और हिमपात बंद होने पर वापस लौटूँ।

पर एकाएक विचारों ने पलटा खाया, "यहाँ पर सोना अर्थात् मृत्यु को निमंत्रण देना है।" स्वामी विवेकानन्द जी की किसी पुस्तक में पढ़ा था कि हिम प्रदेश में इसी प्रकार एक खुमारी सी लगने लगती है। नशा सा प्रतीत होता है और धीरे धीरे मनुष्य चिरनिद्रा में लीन हो जाता है। यह तो वैसी ही निद्रा थी। आँखें झपकी जाती थीं। चारों ओर का रंग-गाढ़ा नीला दीखने लगा। ईश्वर का नाम-स्मरण ही एकमात्र सहारा था। किसी तरह आँखों को बंद होने से रोकने लगा। अचानक ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई मेरा नाम लेकर कह रहा है, "उठो, इस दिशा की ओर दौड़ चलो।" हो न हो यह ईश्वरीय प्रेरणा है ऐसा सोचकर मैं उठा और जिस दिशा की ओर निर्देश हुआ था उधर दौड़ पड़ा। पैर फुट फुट भर बरफ में धँसे जाते थे पर उधर का कुछ ख्याल नहीं रहा। कुछ देर में मैं देखता हूँ कि एक पर्वत के नीचे खड़ा हूँ और करीब सौ फुट की ऊँचाई से एक पहाड़ी जा रहा है। भगवान् की अहैतुकी कृपा देखकर भी मैं नहीं समझ पाया। मैं नहीं समझ पाया कि इस भीषण हिमपात में, निर्जन स्थल में यह व्यक्ति क्यों आया होगा। मैं नहीं सोच पाया कि अहैतुक कृपासिंधु प्रभु ने मेरे ऊपर इस प्रकार कृपा की। उन्होंने अपनी माया का आवरण मुझपर डाल रखा था। मैं जोरों से चिल्लाया, "अरे भाई रुको, मैं यहाँ फँस गया हूँ। थोड़ा रुको, मुझे भी गंगोत्री जाना है।" मेरी आवाज सुनकर वह रुका और बोला, "बाबू, तुम इधर कैसे आ गया, रास्ता एक फर्लांग

दूर से है।" मैंने कहा कि मैं यहीं से चढ़ता हूँ, तुम रुको। अंदर में साहस का संचार हुआ। वहीं से किस तरह ऊपर चढ़ा अब ख्याल नहीं आता। वह व्यक्ति आगे आगे और मैं उसके पीछे पीछे चला। पर्वतों में कच्ची बरफ जम गई थी। वह पैरों से कुचल कुचल कर रास्ता बनाता जा रहा था। उन्हीं रास्तों पर पैर रखते हुए मैं आगे बढ़ा। अब हिमपात बंद हो गया था। आगे का मार्ग और भी खतरनाक हो गया था। कहीं कहीं चट्टानें खिसक गई थीं। इससे पर्वत ढालू और चिकना हो गया था। ऐसे स्थलों को बैठ-बैठकर, पहले हाथ बर्फ में जमाकर और फिर पैर जमाकर पार करना पड़ा। किंतु अब वह भय नहीं रहा।

करीब चार बजे हम दोनों चीड़बासा पहुँचे। वहाँ पर आग जलती हुई देखी और कुछ कोलाहल सुना। मैंने उससे कहा कि जरा इन लोगों से मिलना है। वह बोला, "आप जाकर मिल आइये, मैं यहीं ठहरता हूँ।" चीड़बासा मार्ग से कुछ नीचे है। वहाँ कुंडू बाबू अपनी पार्टी के साथ रुके थे। साथ में दलीपसिंह भी था। मुझे देखकर वे स्तंभित हो गये। मेरे गोमुख हो आने के समाचार ने उन्हें और भी विस्मय में डाल दिया। मैंने सारी बातें कह सुनाईं। सबने कहा कि वहाँ से सकुशल वापस आ जाना ईश्वर की महती कृपा के फल स्वरूप ही था।

उनसे बिदा लेकर जब ऊपर आया तो देखा वह पहाड़ी गायब था। अब मेरी समझ में आया कि वह सब प्रभु की कृपा थी। दुख इस बात का था कि इस बात को पहले नहीं

समझ पाया। हृदय आनन्द से भरपूर था। अन्दर अपूर्व साहस का संचार हो गया। आगे के मार्ग में कोई असुविधा नहीं हुई। करीब सात बजे मैं गंगोत्री पहुँच गया। स्वामीजी ने भी उक्त घटना को सुनकर ईश्वरीय कृपा माना। गंगोत्री में मैं दो दिन और रुका। दूसरे ही दिन गंगोत्री में बहुत जोरों से हिमपात हुआ। स्वामीजी ने बताया कि गत पाँच वर्षों से आजतक इस माह में ऐसा हिमपात नहीं हुआ था। कुंडू बाबू आदि को बिना गोमुख के दर्शन किए चीड़बासा से ही वापस लौटना पड़ा क्योंकि मार्ग बहुत खतरनाक हो गया था। तीसरे दिन स्वामीजी से विदा ले प्रातःकाल पुण्यधाम गंगोत्री से भी मैंने बिदा ली। हृदय आनन्द से भरा भरा था। उसी दिन एक साथ तीस मील चलकर गंगनानी आ पहुँचा और फिर दूसरे दिन उत्तरकाशी। उत्तर काशी में तीन दिन बिताकर रायपुर के लिए रवाना हो गया।

(समाप्त)

———

चींटी से अच्छा कोई उपदेश नहीं देता, और वह मौन रहती है।

— फ्रैंकलिन

जयतु रामकृष्ण

कवि 'विलक्षण' अम्बिकापुर

(१)

युग-युग से मन के जो बन्धन अटूट बँधे,
उन्हें तोड़ अपनी दिव्य ज्योति दिखलाइये।
अधम-उधारन को आये रामकृष्ण आप,
मैं भी हूँ अधम, मत मुझको ठुकराइये।
प्रेम-करुणा की मूर्ति आप तो सदा ही रहे,
क्या है यह झूठ ? अब आप ही बताइये।
ज्ञान-गुरु-गीता आप मेरे लिये माता-पिता,
जयतु रामकृष्ण ! मुझे अपना बनाइये॥

(२)

माता के दर्शन का पकड़ा था हठ तुमने,
माता से स्वयं तुम बात कर पाये थे।
सारा ज्ञान माता ने उड़ेला अन्तस्थल में,
महाभाव सारे तुम्हें आश्रय बनाये थे।
द्वैत, अद्वैत, वेदान्त-लक्ष्य पार किया,
दुर्लभ उपलब्धियों को कर-गत कर लाये थे।
कहाँ तक बखानूँ मैं महिमा तुम्हारी देव !
पहले तुम्हें ज्ञान हुआ, पीछे गुरु आये थे॥

(३)

भ्रुवों मध्य न्यांगटा ने काँच को गड़ाया जब,
देह-भान डूब गया, चेतना चली गयी।
लग गयी समाधि-निर्विकल्प लव-निमेष में ही,
देख करके न्यांगटा की बुद्धि भ्रमित हो गयी।

धन्य रामकृष्ण ! लीला जानता तुम्हारी कौन,
कितने ही दिव्य कृत्य-मालिका पिरो गयी।
चालिस बरस तपकरके न्यांगटा ने जो पाया,
केवल तीन घंटे में तुम्हें प्राप्त हो गयी॥

(४)

ब्रह्म को ही मात्र सत्य न्यांगटा बखानता था,
मिथ्या जानता था अस्तित्व वह माया का।
पहुँचा हुआ सिद्ध परमहंस वह ऐसा था,
जिसे नहीं रहता था भान कुछ काया का।
उसको भी तुमने बताया था रहस्य दिव्य,
माता जगदम्बा की कृपामयी छाया का।
आँखें खुलीं गंगा के किनारे जब रात बीच,
न्यांगटा ने देखा अस्तित्व महामाया का॥

(५)

आते नहीं यदि मेरे प्रभु रामकृष्ण तुम,
कौन पापियों को प्रेमपूर्वक दुलारता ?
ईश्वर की करके अनुभूति, अन्य लोगों को,
बाँटने को उसे, कौन प्रेम से पुकारता ?
आते नहीं तुम, भगवान रामकृष्ण ! अगर,
कौन पार हाथ धर दया कर उतारता ?
आते नहीं, तो कैसे जाकर अमेरिका में,
भारत का गौरव, 'विवेक' ललकारता॥

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

श्री शरद् चन्द्र पेंढारकर, रायपुर

माँ की ममता

महाभारत का युद्ध समाप्त हुआ था और पांडव-पक्ष के लोग विजय की खुशी में सुख की निद्रा में लीन थे। उनकी ऐसी धारणा थी कि कौरव-पक्ष का कोई भी व्यक्ति शेष न रहने के कारण युद्ध समाप्त हो चुका है; किंतु यह उनकी भूल थी। कौरव-पक्ष का एक व्यक्ति जीवित था, जिसके हृदय में बदला लेने की भावना रह-रहकर उठ रही थी। वह था—गुरु द्रोणाचार्यसुत अश्वत्थामा। उसने युद्ध के नियम ताक में रख दिये तथा एक रात्रि को तलवार लेकर उसने पांडवों के शिविर में प्रवेश कर द्रौपदी के पाँच निरीह पुत्रों का वध कर संतोष की साँस ली।

अश्वत्थामा का यह कुकृत्य जब दूसरे दिन द्रौपदी को विदित हुआ, तो वह पुत्रों के शोक में विह्वल हो गई। उसके हृदय में क्रोध की ज्वाला धधक उठी। वह पांडवों से तेज स्वर में बोली, "इस विश्वासघात का बदला लिया ही जाना चाहिये—वधिक को उसका फल मिलना ही चाहिये।" यह सुन अर्जुन भी उत्तेजित हो गया। वह द्रौपदी से बोला, "पांचाली, शोक न करो। मैं उस नीच को अभी पकड़कर तुम्हारे सामने पेश करूँगा और इसका बदला लूँगा।"

भीम ने भी अर्जुन का साथ दिया और वे दोनो अश्वत्थामा को पकड़कर द्रौपदी के पास ले आये। अर्जुन बोला "यह रहा तुम्हारे निरीह पुत्रों की कपट पूर्वक हत्या करने वाला नराधम।" और उसने अश्वत्थामा का शीश काटने के लिये तलवार उठाई ही थी कि द्रौपदी ने उसका हांथ थाम लिया। वह बोली, "स्वामी। आप उसे पकड़कर लाये, इतने में ही मैं संतुष्ट हूँ। इसे छोड़ दिया जाये, क्योंकि इसकी माता कृपी अभी भी जीवित है और मैं नहीं चाहती कि वह भी इसके वियोग में शोक करे। पुत्र-शोक का मुझे पूर्ण अनुभव है। मैं नहीं चाहती कि एक माता के पुत्र-शोक को दूर करने के लिये किसी दूसरी माता को पुत्र-शोक के सागर में डुबाया जाय।" अश्वत्थामा के सिर का मणि निकालकर उसे मुक्त कर दिया गया।

× × ×

माता का आदर्श

सुलह के प्रयत्न निष्फल होने पर कृष्ण ने दुर्योधन के समक्ष पांडवों को केवल पाँच गाँव देने का प्रस्ताव रखा, किन्तु दुर्योधन ने उसे ठुकराकर स्पष्ट रूप से कहा कि वह पाँच गाँव क्या, सुई की नोक के बराबर भी भूमि न देगा। कृष्ण निराश होकर कुन्ती के पास गये।

कृष्ण से सारा वृत्तांत सुनकर कुंति निरुत्साहित नहीं हुई। वीरप्रसूता जननी और तेजस्विनी क्षत्राणी की तरह वह कृष्ण से बोली, "हे कृष्ण, युधिष्ठिर से कहना कि वह क्षत्रिय-धर्म के अनुसार युद्ध करे। युद्ध अवश्यंभावी है,

अतः मृत्यु की परवाह न कर वह अत्याचारी की जड़ उखाड़ फेंके। राष्ट्र के आधार-धर्म -की रक्षार्थ जूझ मरने के लिए तुम अर्जुन और भीम से भी कहना और मेरा संदेश देना कि क्षत्राणी जिस दिन के लिए पुत्र की कामना करती है, धर्म और कर्त्तव्य की वेदी पर आत्म त्याग करने का वह दिन अब आ पहुँचा है। आड़े समय में वीर पुरुष कमर कसकर विपत्तियों से भिड़ जाया करते हैं — शिथिल नहीं होते।

"कहना कि विदुला का पुत्र जब युद्ध में पराजित हो अपनी माता के पास मुँह छिपाने आया था, तब उसने उसे प्रोत्साहित करके फिर युद्ध करने भेजा था और युद्ध में उसके द्वारा वीर गति प्राप्त करने पर परम संतोष के साथ एक क्षत्रिय माता का धर्म निबाहा था। मैं भी उसी प्रकार अपने पुत्रों का अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़कर मरना अधिक पसंद करूँगी, न कि उनका कायरतापूर्वक जीवित रहना।"

कर्मयोगी कृष्ण कुन्ती के इन उत्साह भरे वचनों से इतने अधिक प्रभावित हुए कि इसे ही उन्होंने गीता के कर्मयोग का आधार बनाया। ये वचन आज की माता के लिए भी निस्संदेह उपादेय हैं।

× × ×

भगिनी-प्रेम

चौदह वर्ष का बनवास पूर्ण कर प्रभु रामचंद्रजी, सीता-

देवी तथा लक्ष्मण के साथ अयोध्या वापस आये। लक्ष्मण ने अब भी रामचंद्रजी का साथ न छोड़ा। आखिर रामचंद्रजी ने उनसे कहा, "जाओ, उर्मिला से मिल आओ।" लक्ष्मण जब उर्मिला के पास गये, तो यह उनकी चौदह वर्षों के पश्चात् की प्रथम भेंट थी। उर्मिला ने अपने पति को जो देखा, तो कुशल-क्षेम के शिष्टाचार वाले प्रश्न न किये। उसने जो पहला प्रश्न किया, वह था—"स्वामी, सर्वप्रथम आप यह बतायें कि प्रभु रामचंद्रजी और आप, दोनों के होते हुए मेरी बहन का हरण कैसे हुआ) आप सरीखे धनुर्धारी वीर होते हुए दुष्ट रावण की हिम्मत कैसे हुई कि वह सरलता से हरने में सफल हुआ?"

इस अप्रत्याशित प्रश्न को सुनते ही लक्ष्मण भौंचक्के रह गये। उनसे कुछ जवाब देते न बना; किन्तु धन्य है वह उर्मिला, जिसने चौदह वर्ष के लंबे बिछोह के उपरांत भी अपने पति से सर्वप्रथम अपनी बहन से संबंधित प्रश्न किया!

× × ×

रण-रागिनी की वीर वाणी

फिरंगी की बहुरंगी चालें देखकर भारतीय शासक और शासित त्रस्त थे। उनकी अनीति ने रानी लक्ष्मीबाई के मन में विद्रोह भर दिया और उन्होंने अपना सर्वस्व स्वदेश के लिए समर्पित कर दिया। उसकी वाणी में वीरों को उत्तेजित करने की अपूर्व शक्ति थी। हाथ में नंगी तलवार लिये, पीठ पर अपने नन्हे दत्तक पुत्र को बाँधे इस अश्वारोहिणी

की विप्लव-ज्वाला गाँव गाँव और नगर-नगर में सुलग उठी—"हमारा ही हाल देखो ! ईस्ट इन्डिया कंपनी ने शपथ ली थी कि झाँसी के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, लेकिन उसका इन्होंने उल्लंघन किया। पूज्य पति के दुःख पूर्ण स्वर्गारोहण के उपरांत मैंने हिंदूधर्मशास्त्रों की आज्ञा और मर्यादा के अनुसार एक बालक को गोद लिया, लेकिन कंपनी के सौदागर-दलाल कहते हैं कि मैं ऐसा नहीं कर सकती ! उन्होंने गोद को मान्यता नहीं दी और इसके विपरीत मुझे धमकियाँ देते हैं कि वे झाँसी छीन लेंगे। मैं नहीं जानती कि किस अधिकार से वे ऐसी गीदड़-भभकियाँ दे रहे हैं। लेकिन झाँसी कोई लड्डू नहीं है कि डलहौजी इसे निगल जाए !

"आप सब जानते हैं कि कम्पनी वालों ने छत्रपति शिवाजी महाराज द्वारा स्थापित महान् सतारा राज्य समाप्त कर दिया है। यह सब उन्होंने झूठ और फरेब से किया है। ये इसीलिए सफल हुए कि हम सब बिखरे हुए हैं और हममें आपस में फूट है। मैं स्पष्ट बताना चाहती हूँ कि यह जो फिरंगी अफसर झाँसी का कब्जा लेने आ रहा है, उसे खाली हाथ जाना होगा। मैं उसे झाँसी न दूँगी—अपनी झाँसी कदापि न दूँगी। इसके पहले कि सौदागरों की ईस्ट इण्डिया कंपनी झाँसी पर अपना अधिकार जमाये, मैं अपनी देह की प्रत्येक बूँद उसकी रक्षा में बहा दूँगी।

"मेरे लिए यह महान् हर्ष का विषय होगा कि मेरे रक्त की प्रत्येक बूँद भारत की आज़ादी के लिए बहे और

झाँसी मुक्ति युद्ध का अजेय दुर्ग बन जाए, ताकि हमारा देश स्वतंत्रता-सग्राम कर सके। मैं भले ही अकेली रहूँ, मुझे साथी मिलें, या न मिलें पर मैं भयंकर युद्ध के लिए तत्पर हूँ और अंतिम समय तक फिरंगियों की दासता स्वीकार नहीं करूँगी। मेरे लिए आज एक ही रास्ता है और वह है विद्रोह — आज़ादी के लिए विद्रोह। आज मेरे सामने एक ही मंजिल है— या तो महान् विजय अथवा रणभूमि में मृत्यु। विजय या मौत! मौत या विजय!"

भला इस ओजस्वी वाणी से किसका स्वाभिमान न जागेगा?

× × ×

वीरोचित क्रियाकर्म

घटना सन् १८०० ई० की है। धोंडोपंत गोखले कर्नाटक राज्य के सेनापति थे। एक बार उनका धोंडजी बाघ से सामना हुआ और वे उस युद्ध में काम आये। ज्योंही यह खबर उनके भतीजे बापू गोखले को लगी, वह रण-स्थल पर पहुँचा और उनके अंतिम संस्कार के लिए उनका शव लेकर दुर्ग के द्वार तक पहुँचा ही था, कि वहाँ उसे उसकी चाची दिखाई दी। उसने श्वेत वस्त्र परिधान किये थे तथा माथे का कुंकुम मिटा डाला था।

भतीजे के समीप आने पर वह व्यंग्य से बोली, "आइये पधारिये। जरा देखूँ तो, मेरा भतीजा मेरे लिए क्या नज़-राना लाया है? बड़े सौभाग्य की बात है कि आप मेरे

पति की मृत देह लाने में सफल हुए!" अकस्मात् वह क्रोधित हो उठी और उसपर उबल पड़ी, "न मालूम तुम्हें अंतिम संस्कार की जल्दबाजी क्योंकर आ पड़ी? वीर आत्मा को केवल मंत्रों के उच्चारण से मुक्ति नहीं मिलती। उसकी संतुष्टि के लिए तो दूसरे को स्वयं की तिलाञ्जलि देनी होती है। यदि तुम भी अपने चाचा की तरह सच्चे सेनानी होगे, तो हत्यारे का शीश लेकर ही वापस आओगे"

बात वीर बापू गोखले के दिल पर असर कर गई। वह तुरन्त दल-बल समेत युद्ध स्थल की ओर रवाना हुआ और धोंडजी बाघ से उसने घमासान युद्ध किया। इसमें उसने विजय प्राप्त की और अपने भाले की नोक में उसका शीश लटकाकर वापस लौटा। चाची ने जब यह देखा, तो प्रसन्न हो बोली, "अब तुमने अपने चाचा का क्रियाकर्म उचित रीति से किया है। निस्संदेद मृतक को शान्ति प्राप्त होगी।"

× × ×

कर्त्तव्य की वेदी पर

मुगल बादशाह औरंगजेब ने जब मुराद को प्रलोभन-देकर दारा शिकोह का कत्ल कराया, उसी समय राजपूतों ने भी उसके विरुद्ध तलवार उठाई। वीर राठौर यशवंतसिंह के नेतृत्व में राजपूत, मुराद की सेना पर टूट पड़े। मुराद ने जो यह अप्रत्याशित हमला देखा, तो उसने मुकाबले के लिए अधिक से अधिक सेना बुलवाई और राजपूतों पर गोलों की वर्षा की। यद्यपि राजपूत वीरता से लड़े, किन्तु

शत्रु की अधिक सेना के आगे टिक न सके। यशवंतसिंह को विजय की आशा न रही, तो वह शेष ५०० सिपाहियों के साथ युद्ध स्थल से वापस लौट आए ।

महारानी माया को, जो उदयपुर के राणा की बेटी थी, जब यह खबर लगी कि उसका पति रणस्थल से भागकर आ रहा है, उसने द्वारपाल को दुर्ग के द्वार बन्द करने का आदेश दिया। उसके इस विचित्र आदेश को सुनकर दरबारियों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। आखिर डरते डरते एक दासी ने पूछ ही लिया, "महारानीजी, आप यह क्या कर रही हैं ? द्वार बंद कर लेने से महाराज जाएँगे कहाँ ? क्या एक स्त्री का यही कर्त्तव्य है कि विपदा में पड़े अपने स्वामी का वह ऐसा ही स्वागत करे ?"

रानी ने उत्तेजित स्वर में उत्तर दिया, "मैं एक राजपूतनी हूँ। राजपूत स्त्री अपने पति की कायरता कदापि पसंद नहीं कर सकती। फिर मेरे पति तो युद्ध से भागकर वापस आ रहे हैं, भला मैं इसे कैसे सहन कर सकती हूँ ? जो शत्रु को पीठ दिखाकर आ रहा है, वह मेरा पति हो ही नहीं सकता।"

महाराज यशवंतसिंह को सारी बात समझते देर न लगी। वे तुरंत और अधिक सैनिक लेकर युद्धस्थल की ओर रवाना हुए और उसीमें वे काम आये।

× × ×

स्वाभिमान

आंबेर के राजा जयसिंह की छोटी रानी कोटा की राजकुमारी थी। उसकी यह विशेषता थी कि उसे सादगीपूर्ण रहन-सहन प्रिय था जब कि जयसिंह उसे साज सज्जा तथा आभूषणों से लदी देखना पसंद करता था।

एक दिन जयसिंह ने बातचीत के दौरान छोटी रानी से कहा, "तुम्हारे वस्त्रों और आभूषणों से तो नगर की साधारण स्त्रियाँ ही अच्छे वस्त्रादि पहनती हैं। तुम तो उनसे भी हीन मालूम पड़ती हो।" किंतु रानी मौन ही रही। उसने इसे अनसुना कर दिया। इससे राजा को गुस्सा आ गया और उसने एक काँच का टुकड़ा उठाकर रानी के वस्त्र फाड़ने के लिए हाथ बढ़ाया। यह देख रानी का स्वाभिमान जाग उठा। उसने फौरन राजा के म्यान की तलवार निकालकर आवेशपूर्ण शब्दों में कहा," स्वामी, मैंने जिस वंश में जन्म लिया है, वह इस प्रकार के उपहास को कदापि सहन नहीं कर सकता। यदि आपने पुनः कभी मेरा अपमान करने की चेष्टा की, तो उसका परिणाम अच्छा न होगा। आपको मालूम हो जायेगा कि आंबेर के राजकुमार काँच का टुकड़ा चलाने में उतने प्रवीण नहीं होते जितनी प्रवीण कोटा की राजकुमारियाँ तलवार चलाने में होती हैं।" राजा जयसिंह की भयभीत मुद्रा देखकर वह आगे बोली, "कोटावंश की किसी कन्या का भविष्य में कभी भी अपमान न हो,। इसीलिए मुझे ऐसा मजबूरन करना पड़ा है।"

जयसिंह भयभीत तो हो ही चुका था। उसने रानी से क्षमा माँगी और प्रतिज्ञा की कि वह भविष्य में उसका अपमान न करेगा और उसने इस बचन को भली भाँति निभाया।

दया का असर

कलिंग युद्ध में भीषण हिंसा के कारण सम्राट् अशोक का हृदय पसीज उठा और उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली। उसका प्रचार करने हेतु उसने अपनी पुत्री संघमित्रा को लंका की ओर भेजा। बौद्धधर्म के अनुयायी बनाने में जहाँ उसे सफलता प्राप्त हुई, वहीं दूसरे धर्म वाले उसके शत्रु भी हो गये। उन्होंने विचार-विमर्ष कर उसे समाप्त करने का निश्चय किया।

अमावस्या की एक रात्रि को उनमें से एक युवक उसकी कुटिया के समीप आया। उसने देखा कि आँगन में दीपक के पास एक गाय के समीप संघमित्रा बैठी हुई है। वह युवक पीछे से आया और उसने हाथ में रखे छुरे से उस पर वार करना चाहा ही था कि उसके हाथ ठिठक गये — हाथ से छूरा गिर पड़ा। बात यह थी कि संघमित्रा अपने पहिने वस्त्रों को फाड़कर उस घायल गाय के घाव पोंछ रही थी। यह दृश्य देखकर उसका पत्थरतुल्य हृदय भी दुखित हो गया। वह संघमित्रा के चरणों पर गिर पड़ा। उसने अपनी पूर्व मनीषा बताई तथा क्षमा माँगी।

क्रोध

श्री हेनरी स्वीट

(मध्यकालीन अंग्रेजी साहित्य की पुस्तक 'एंक्रेन-रीले' का संपादन श्री हेनरी स्वीट ने किया था। उसके अन्तर्गत 'एंगर' नामक पाठ में मठ की संन्यासिनियों को जो उपदेश दिया गया है वही पाठकों के लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत है। रूपान्तरकार हैं श्री रामेश्वरानन्द)।

मेरी प्यारी बहिनो, जिस प्रकार तुम अपने ज्ञान के अभाव को जानती हो उसी प्रकार तुम यह भी जान लो कि तुम्हें प्रयत्नपूर्वक हृदय से कोमल, विनयी, मृदु और मृदु भाषी बनना है। यदि कोई तुम्हारे विषय में अपशब्द भी कहे तो तुम्हें धैर्य धारण करना चाहिये ताकि दूसरे लोग तुम्हारे साथ जो बुराइयाँ करें उनसे तुम्हारा सर्वनाश न हो। कटु स्वभाव वाली संन्यासिनियों के विषय में डेविड ने यह पंक्ति कही है : "मैं एक पेलिकन के समान हूँ जो केवल अपने लिये जीता है।" पेलिकन एक दुर्बल किन्तु क्रुद्ध स्वभाव वाली चिड़िया है। जब उसके बच्चे उसे उत्तेजित करते हैं तो वह क्रोध के आवेश में उनकी हत्या कर डालती है। किन्तु शीघ्र ही उसे ग्लानि होती है। वह शोक से अभिभूत होकर अपनी चोंच से स्वयं घायल कर डालती है और अपने हृदय से रक्तधार बहाकर पुनः अपने मृत बच्चों को जीवित कर लेती है। क्रुद्ध स्वभाव वाली संन्यासिनी ही यह पेलिकन है। सत्कर्म ही उसके छोटे बच्चे हैं जिन्हें वह अपने तीक्ष्ण क्रोध के प्रहारों के द्वारा नष्ट कर देती है। पर

जब वह ऐसा कर बैठे तो उसे पेलिकन के ही समान पश्चात्ताप भी करना चाहिये।

उसके पश्चात्ताप करने और अपनी चोंच से अपने वक्ष पर प्रहार कर उसे विदीर्ण करने का अर्थ यह है कि उसने अपने मुख से पाप किया था और अपने शुभकर्मों की हत्या की थी और वह पुनः उसी मुख से अपने दोषों की स्वीकारोक्ति करके अपनी आत्मा के वासस्थल हृदय से पापयुक्त रक्त को बाहर निकालती है। इस प्रकार वह अपने सत्कर्मों को पुनः जीवित कर लेती है। रक्त पाप का प्रतीक है। जिस प्रकार मनुष्य की दृष्टि में खून में डूबा आदमी घिनौना और बीभत्स दिखायी देता है उसी प्राकर ईश्वर की दृष्टि में पापयुक्त व्यक्ति भी घिनौना और बीभत्स होता है।

जब तक हृदय क्रोध में उफनता रहता है तब तक कोई उचित या सही निर्णय नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार जब पापपूर्ण वासना बेगवती होती है तब तुम इसकी परख नहीं कर सकतीं और उसके परिणामों के विषय में नहीं सोच सकतीं; किन्तु वासना को शमित हो जाने दो, तब तुम आनन्द का अनुभव करोगी।

क्रोध ऐसी जादूगरनी के समान होता है जो मनुष्य की विवेक-बुद्धि का अपहरण कर लेती है और उसके स्वरूप को पाशविक बना देती है। क्रुद्धा स्त्री मादा भेड़िये के समान होती है और क्रोधी पुरुष भेड़िया, सिंह और गैंड़े के समान होते हैं। क्रुद्धा स्त्री जब भगवान से प्रार्थना करती है और उनकी उपासना के गीत गाती है, तो उसकी प्रार्थना

और उसके गीत केवल गुर्राहट के समान प्रतीत होते हैं। भगवान् की दृष्टि में वह एक मादा- भेड़िया होती है तथा उसकी आवाज प्रभु के मधुर कानों में गुर्राहट के समान लगती है। क्रोध पागलपन है। क्या क्रोधी व्यक्ति पागल नहीं होता ? वह कैसा दिखता है ? वह कैसे बोलता है ? उसके हृदय में क्या भरा रहता है ? उसके बाह्याचार कैसे होते हैं ? वह किसी भी व्यक्ति को कुछ नहीं समझता। तब फिर वह मनुष्य कैसे हो सकता है ? मनुष्य स्वभावतः मृदुल होता है। किन्तु जैसे ही वह अपनी मृदुलता का त्याग करता है वैसे ही उसका मानवीय स्वभाव भी जाता रहता है, और जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, क्रोधरूपी जादूगरनी उसके स्वभाव को पाशविक बना देती है। ऐसी स्थिति में यदि ईसा की अनुचरी कोई संन्यासिनी मादा-भेड़िया में बदल जाये तो क्या यह बहुत दुःख की बात नहीं है ? तब उसके लिये अपने हृदय पर लिपटे हुए रूखे चर्मावरण को उतार फेंकने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं रह जाता ताकि वह फिर से अपने हृदय को नारी सुलभ शांति, कमनीयता और कोमलता से युक्त कर सके। मादा भेड़िया के रूप में वह जो कुछ करती है, वह ईश्वर को न तो स्वीकार्य होता है और न प्रिय। अब यहाँ क्रोध से बचाव के विविध उपायों, विधियों और औषधियों को ध्यान से सुनो।

यदि कोई तुम्हें दुर्वचन कहे तो तुम्हें यह सोचना चाहिये कि तुम पृथ्वी हो। क्या लोग पृथ्वी को नहीं रौंदते ? क्या वे पृथ्वी के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करते ?

क्या लोग पृथ्वी पर नहीं थूकते ? यदि कोई तुम्हारे साथ इस प्रकार का आचरण करे तो तुम उसे उसी प्रकार उचित समझो जिस प्रकार उसका पृथ्वी के प्रति किया गया आचरण उचित है। यदि तुम प्रतिकार स्वरूप भौंकने लगती हो तो तुम्हारा स्वभाव कुत्ते के समान हो जाता है। यदि तुम काटने के लिये दौड़ती हो तो तुम्हारा स्वभाव साँप के समान हो जाता है और तुम ईसा की अनुगामिनी नहीं बनतीं। विचार करो कि क्या ईसा ने ऐसा किया था ? धार्मिक ग्रन्थ बताते हैं कि जब प्रातःकाल ईसा को सूली पर चढ़ाने के लिये वधस्थल पर लाया गया और उनके चारों अंगों में लोहे की कीलें ठोंक दी गयी, तब सारी रात अत्यंत अमानवीय कष्टों को सहने पर भी ईसा के मुख से भेड़ के समान ही क्षीण आवाज निकल सकी (अर्थात् उन्होंने कुछ भी नहीं कहा)।

शब्द क्या है — मात्र वायु। वायु का झोंका दुर्बल के लिये शक्तिशाली प्रतीत होता है जिसके स्पर्श मात्र से ही वह पापके कुण्ड में गिर जाता है। जो संन्यासिनी शब्द-रूपी वायु के हलके से झोंके से गिर जाती है उसके विरुद्ध कौन नहीं सोचेगा ? वह तो धूलिकण के समान अस्थिर बन जाती है जिसे शब्दरूपी वायु का हलका सा झोंका विचलित और अप्रसन्न बना सकता है। यदि तुम निन्दक के मुख के उद्गार को पैरों तले फेंक दो तो यह कार्य तुम्हें स्वर्गीय सुख की ओर ऊपर उठा देगा।

तुममें धीरज का अभाव देखकर बड़ा आश्चर्य होता

है। इस बात को समझो। संत एण्ड्रयू ने कठोर सूली से होने वाली व्यथा को जानते हुए भी उसे इसलिये सहर्ष गले लगा लिया था क्योंकि वह उन्हें स्वर्ग की ओर ले जायेगी। ऐसा ही जानकर संत लारेंस ने भी लाल अंगारे के समान दहकते हुए लोहे को हाथों में उठा लिया था। संत स्टीफेन ने भी घुटने टेककर पत्थरों की मार सह ली थी। तिसपर भी हम शब्द के प्रवाह को नहीं सह सकते जो हमें स्वर्ग की ओर ले जायेगा। इसके विपरीत हम उन लोगों पर क्रोधित हो उठते हैं जिन्हें हमें धन्यवाद देना चाहिये क्योंकि उनके ये शब्द अनैच्छिक होते हुए भी हमारा बड़ा उपकार करते हैं।

दुष्ट और बुरे लोग जो भी बुराई करते हैं वह भले लोगों के लिए कल्याणकर होती है क्योंकि वह उनकी उन्नति और आनन्द - प्राप्ति में सहायक होती है। यह तो सोचो कि किस प्रकार हमारे पूर्वजों के समय में महात्माओं ने कष्ट देने वाले लोगों के हाथों को चूमते हुए उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा था, "ये हाथ धन्य हैं जिन्होंने मुझे स्वर्गीय कृपा का अधिकारी बनाया!" इसी प्रकार तुम्हें भी उन हाथों को धन्यवाद देना चाहिये जिन्होंने तुम्हारा अपकार किया है। ठीक ऐसे ही तुम्हें अपनी निन्दा करनेवाले मुख की प्रशंसा करते हुए कहना चाहिये, "तुम्हारा मुख धन्य है क्योंकि उसने राजमुकुट की अधिकारिणी बनने में मेरी सहायता की है। मेरे प्रति की गई भलाई के लिये मैं प्रसन्न हूँ और मेरे प्रति की गयी बुराई के लिये मैं तुम्हारी आभारी हूँ क्योंकि

तुमने मेरी तो भलाई ही की है, भले ही तुमने अपने प्रति बुराई की है।"

मेरी प्यारी बहनो, यदि हम ठीक से अवलोकन करें तो हमें यह जानकर महान् आश्चर्य होगा कि जहाँ देवताओं ने अपने शरीर पर कितने आघातों को सहा था वहाँ हम हवा के छोटे से झोंकों को अपनी ओर बहते देखकर ही क्रोधित हो उठते हैं। यह हवा का झोंका कानों को छूने के सिवाय कुछ भी आघात नहीं पहुँचाता। वायु अर्थात् शब्द न तो तुम्हारे शरीर पर आघात करता है और न तुम्हारी आत्मा को ही कलुषित करता है। यह एक हल्के से झोंके के समान तुम्हें छूता है।

निन्दा और अपकार का तुरन्त उपचार है। एक उदाहरण लो। मानलो एक व्यक्ति कारागार में बन्दी है। वह अर्थदण्ड चुकाकर ही फाँसी की सजा से बच सकता है। यदि कोई व्यक्ति उसे मुक्त करने के लिये रुपयों से भरी थैली को जोर से उसकी ओर फेंकता है और उसके आघात से बंदी की छाती में तीव्र पीड़ा होने लगती है तो क्या बन्दी अपने मुक्तिदाता के प्रति कृतज्ञ नहीं होगा? वह अपनी सारी पीड़ा को बदले में मिलने वाले सुख का विचार कर भुला देता है और आघात करने वाले को क्षमा कर देता है।

इसी प्रकार हम सब इस संसार के जेलखाने में बन्दी हैं और हमें ईश्वर के पास अपने पापों के महान् ऋण को चुकाना है। इसलिये हम उनसे क्रन्दन करते हुए प्रार्थना

करते हैं — "भगवान्! हमें तुम अपने ऋण से उसी प्रकार मुक्त कर दो जैसे हम अपने कर्जदारों को मुक्त करते हैं।" यह समझना भूल है कि कोई हमें अपने शब्दों और कार्यों के द्वारा नुकसान पहुँचाता है। यह तो हमारा जुर्माना है जिसे हम भगवान् को अपने पापों के ऋण से मुक्त होने के लिये पटाते हैं। इस जुर्माने को पटाये बगैर कोई व्यक्ति न तो जेलखाने से छूट सकता है और न उसकी नरक की पीड़ा कम ही हो सकती है। इसलिये ईश्वर स्वयं कहते हैं — "तुम दूसरों को क्षमा करो और मैं तुम्हें क्षमा करूँगा।" पर वे यह भी कहते हैं — "तुम पापों के ऋण-भार से दबे हुए हो, फिर भी मैं तुम्हारे साथ एक समझौता कर सकता हूँ। वह यह कि तुम सदैव दूसरों का भला करते रहोगे। भले ही लोग तुम्हारी निन्दा करें और तुम्हें हानि पहुँचायें किन्तु इन सबको सहना ही मेरे द्वारा किये गये जुर्माने का भुगतान होगा।" यदि कोई शब्द जोरों से तुम्हारे हृदय पर आघात करे और तुम्हें ऐसा प्रतीत हो कि उसने तुम्हारे हृदय को विदीर्ण कर डाला है तो तुम्हें इस पीड़ा को उस बंदी की भाँति ही सहना होगा जिसने रुपयों की थैली के आघात को सहा था और जो उसके बदले में मिलने वाली मुक्ति के विचार से हर्षित हो उठा था। ऐसे व्यक्तियों को धन्यवाद दो जो ईश्वर के दूत के समान हैं पर जिनपर भगवान् प्रसन्न नहीं होते। ऐसे व्यक्ति स्वयं की हानि करके तुम्हारा कल्याण करते हैं।

— x —

लघुकथा

महानता

डा० प्रणवकुमार बनर्जी, पेण्ड्रा

एक बरगद का पेड़ जब खूब बड़ा हो गया और अनेक यात्री उसके नीचे आश्रय पाने लगे, तब एक गिलहरी ने, जो उसी बरगद के एक गर्त में रहती थी, कहा, 'बरगद तुम महान् हो !'

बरगद हमेशा अहं से बचते रहने वाला वृक्ष था। प्रशंसा से चिन्तित होकर बोला, 'कैसे ?'

'देखो न, तुम्हारी महानता से छोटे-बड़े सबको कितना बड़ा आश्रय रहता है।' — गिलहरी ने सहज नम्रता से उत्तर दिया।

बरगद दो क्षण चुप रहा। फिर बोला, 'तुम जिसे महानता कहती हो वह इस जमीन, हवा और प्रकाश के अपरिमित दान के प्रति मेरी कृतज्ञताओं का प्रदर्शन है। मैं तो अपने आप में सब ऋतुओं की ताड़ना में उसी तरह उलझा रहने वाला हूँ जिस तरह सम्पूर्ण जगत्।'···

———

कुन्ती

नारी का चरित्र वह मापदण्ड है, जिससे किसी समाज की नैतिकता और चरित्र का माप और मूल्यांकन किया जा सकता है। समाज का चरित्र और नैतिकता नारी के चरित्र में मानों सिमट कर समायी हुई है। कुन्ती का चरित्र भी इसी प्रकार का एक चरित्र है। सम्पूर्ण महाभारत में उनका चरित्र मानों त्याग, धैर्य और सहनशीलता मूर्त रूप है।

यदुवंशियों में श्रेष्ठ महाराज शूरसेन के फुफेरे भाई थे राजा कुन्तीभोज। उनके कोई सन्तान नहीं थी। शूरसेन ने उन्हें वचन दिया था कि वे अपनी प्रथम सन्तान उन्हें दे देंगे। शूरसेन की प्रथम सन्तान कन्या हुई। उसका नाम रखा गया पृथा। वह अत्यन्त रूपवती एवं सुलक्षणा थी। अपनी प्रतिज्ञानुसार उन्होंने राजा कुन्तीभोज को अपनी कन्या सौंप दी। पृथा अब कुन्तीभोज की दत्तक पुत्री हो गई तथा कुन्ती के नाम से जानी जाने लगी।

राजा कुन्तिभोज के घर राजकुमारी कुन्ती का लालन-पालन बड़े लाड़ - प्यार से होने लगा। शैशव की सरलता कैशोर्य की चंचलता में, और कैशोर्य की चंचलता तारुण्य की माद-कता में कालक्रम से परिवर्तित हो उठी। श्याम मेघों के मध्य शुभ्र पूर्णमासी के चन्द्र की भाँति कुन्ती का सौन्दर्य निखर उठा। उसकी सौन्दर्य-सुरभि दूर-दूर तक फैल गई। कई राजाओं और राजकुमारों ने महाराज कुन्तिभोज के पास उनकी कन्या के साथ विवाह करने का प्रस्ताव भेजा।

कुन्तिभोज ने स्वयंवर करने का निश्चय किया। उसकी व्यवस्था कर सभी राजाओं और राजकुमारों को सन्देशा भेजा गया। अनेक राज्यों के अधिकारी और उत्तराधिकारी उस स्वयंवर-सभा में उपस्थित हुए। सूचना पाकर महाराज पाण्डु भी इस सभा में प्रत्याशी के रूप में आये। वे अत्यन्त रूपवान और बलवान थे। उनका व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक था। पाण्डु को देख कर कुन्ती ने मन ही मन उनका वरण कर लिया और जब वह स्वयंवर-सभा में आई तो उसने उनके गले में जयमाला डाल दी। राजा कुन्तिभोज बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने बड़ी धूम धाम से कुन्ती का विवाह पाण्डु के साथ कर दिया।

महाराज पाण्डु की दूसरी पत्नी थीं मद्रराज की कन्या माद्री। राजा एक बार अपनी पत्नियों के साथ आखेट के लिए गए थे। वहाँ वन में भूल से उनके बाण से एक तपस्वी की मृत्यु हो गई। तपस्वी ने पाण्डु को श्राप दे दिया। इस दुर्घटना से पाण्डु अत्यन्त दुःखित हो गए तथा उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब वे लौट कर राजधानी को नहीं जाएँगे, तथा अपना शेष जीवन संन्यास लेकर, तपश्चर्या में अर्पित कर देंगे। उन्होंने अपना निश्चय पत्नियों को बताया। रानियों को इससे बड़ा दुख हुआ। उन्होंने राजा से प्रार्थना की, वे संन्यासी न होकर वानप्रस्थ ग्रहण कर लें तथा साथ पत्नियों को भी रहने की अनुमति दे दें। कुन्ती के समझाने पर राजा मान गए। किन्तु वे राजधानी को वापस न लौटे। आखेट-वन से ही वे अपनी पत्नियों के साथ तपस्वियों के

तीर्थ शतश्रृंग पर्वत की ओर चल पड़े। वहाँ कुटी बनाकर पाण्डु साधक जीवन का अभ्यास करने लगे।

यहाँ पाण्डु अनेक वर्षों तक रहे। इस बीच कुन्ती के तीन पुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा माद्री के दो जुड़वाँ पुत्र नकुल तथा सहदेव उत्पन्न हुए। पाण्डु-परिवार का जीवन आनन्द और शान्ति पूर्वक व्यतीत हो रहा था।

देव-गंधर्व, राजा-रंक, योगी-यति, साधक-सिद्ध, जो भी इस धरा धाम में आया है उसे जाना ही होगा — आज नहीं तो कल। काल के इस नियम में कोई व्यवधान नहीं है। कोई अपवाद नहीं है। अनादि काल से यह कालचक्र चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

किशोर अर्जुन के जीवन का चौदहवाँ वसन्त था। आज कुमारका जन्म दिन है। माता कुन्ती उल्लास और आनन्द में विभोर हैं। वे आनन्द से फूली नहीं समा रही हैं। किशोर अर्जुन इन्द्र के समान तेजस्वी दीख रहे हैं। उन्हें सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजाया गया है। माता कुन्ती ने आज तपोवन के आबालवृद्ध विप्रगणों को आमन्त्रित किया है। रसोइये के साथ वे स्वयं भोजन बनाने में व्यस्त हैं। और अब उसाहपूर्वक सबको परोस रही हैं। वात्सल्यमयी कुन्ती सभी को साग्रह भोजन करा रही हैं।

किन्तु इस उत्सव-आनन्द में महाराज पाण्डु नहीं दीख पड़ रहे हैं। अरे हाँ! महारानी माद्री भी तो नहीं दीख रही हैं। आनन्दोल्लास में कुन्ती का उस ओर ध्यान ही नहीं गया। वसन्त ऋतु की बहार सारे वनप्रांत में छाई हुई

थी। राजा पाण्डु नवपल्लवित लता गुल्म-वृक्ष-पल्ली के सौंदर्य का आनन्द ले रहे थे। तभी उनकी दृष्टि माद्री पर पड़ी और उन्होंने रानीको अपने साथ ही लेने का आग्रह किया। वे दोनों प्रकृति के सौन्दर्य का रसास्वादन करते हुए वसन्त-विभोर वन में दूर तक चले गए। वासन्ती सुमनों का सौरभ राजा के मनको मादक करता जा रहा था। सुदूर एकान्त! साथ में तरुणी पत्नी — अनङ्ग राजा पाण्डु के माध्यम से साङ्ग हो उठा। माद्री विचलीत हो उठीं। राजा ऋषिशाप से ग्रसित थे। मनसिज की मनोकामना मान्य होने पर महाराज पाण्डु की मृत्यु निश्चित थी। पत्नी ने प्रतिकार किया। किन्तु प्रतिकार पराजित हुआ। माद्री का प्रयत्न निष्फल किन्तु ऋषि शाप फलित हो गया और दूसरे ही क्षण राजा पाण्डु की मृत देह भूमि पर पड़ी थी।

प्रकाश और अंधकार, जीवन और मृत्यु, सुख और दुख, संयोग और वियोग! कैसा विरोधाभास! कैसी विड-म्बना!! कैसा वैचित्र्य!!! किन्तु कितना सत्य है उस निर्लिप्त निर्मोही निस्संग विधाता का विधान!

क्षणमात्र में कुमार अर्जुन के जन्मोत्सव की आनंद दायिनी किलकारियाँ पितृशोक के करुण क्रन्दन में बदल गईं। कुन्ती के हृदय पर मानों वज्रपात हो गया। वे पति से चिर वियोग का समाचार सुनकर मूर्छित हो गयीं। चेतना लौटने पर वे अपने उस साथी की मृत देह की ओर दौड़ पड़ी जिसने अग्नि को साक्षी बनाकर आजन्म साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा की थी।

स्नेह और सहानुभूति का स्निग्ध जल शोक की दहकती ज्वाला को शांत करने में समर्थ होता है। तपःपूत शुद्धचित तपस्वियों का निर्हेतुक स्नेह पाकर कुन्ती के हृदय की शोक ज्वाला भी कुछ शांत हुई। फिर भी वे पति के साथ सती होने को उद्यत हुईं। किंतु रानी माद्री के आग्रह और तपस्वियों के सत्परामर्श के कारण, पति वियोग का दारुण दुख सहते हुए अपने पति की धरोहर इन पाँच पुत्रों के लालन-पालन का भार उन्होंने स्वीकार किया और छोटी रानी माद्री पति के साथ सती हो गयीं।

महाराज पाण्डु की मृत्यु के सत्रह दिनों पश्चात्[1] शत-शृंग पर्वत के तपस्वियों ने परस्पर परामर्श कर यह निश्चय किया कि अब महारानी कुन्ती और उनके पुत्रों को हस्तिना पुर पहुँचा कर उनके दायित्व से मुक्त हो जाना चाहिए। तपस्वियों के उक्त निश्चय से माता कुन्ती भी सहमत हो गईं और अपने पुत्रों को लेकर तपस्वियों के साथ हस्तिनापुर की ओर चल पड़ीं। वहाँ पहुँच कर मुनियों ने पितामह भीष्म से कुन्ती और उनके पुत्रों का परिचय कराया तथा उन्हें महाराज पाण्डु की मृत्यु और माद्री के सती हो जाने का दुखद समाचार सुनाया।

कुन्ती हस्तिनापुर में अपने पुत्रों के साथ रहने लगीं। पाण्डव कुमारों की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था भी कौरव-कुमारों के साथ की गई। पाण्डव अपनी प्रतिभा में अद्वितीय

---

१ महा० आदि० १२५।२६

थे। कौरव किसी भी प्रकार उनकी बराबरी नहीं कर पाते थे। अतः द्वेष के कारण दुर्योधन ने पाण्डवों को मार डालने का षड़यंत्र रचा। उन्हें वारणावत के लाक्षागृह में भेजा और उन्हें जीवित जलवा देने का प्रयत्न किया किंतु पाण्डव अपनी माता सहित उसमें से बच निकले।

वारणावत से बच निकलने के पश्चात् पाण्डव एकचक्रा नगरी में एक ब्राह्मण के आश्रय में रहते थे। उस ब्राह्मण के पुत्र की प्राणरक्षा के लिए कुन्ती ने जिस अनुपम त्याग और परोपकारिता का परिचय दिया वह आज भी नारी-जाति के लिये अनुकरणीय है। किस माँ को अपना पुत्र प्रिय नहीं होता ? माँ के चाहे सौ पुत्र भी क्यों न हों ? उसे सभी पर समान स्नेह होता है। अपने पुत्रों में सबसे अधिक बलशाली और पराक्रमी पुत्र भीमसेन को कुन्ती ने स्वेच्छा से परोपकारार्थ विकराल राक्षस बकासुर के पास भेज दिया था। कितना बड़ा त्याग! कैसी महानता है उस माँ की, जिसने दूसरे का दुख दूर करने के लिये अपने पुत्र को साक्षात् मृत्यु के मुँह में भेज दिया था। यह तो प्रभु की कृपा थी कि भीमसेन विजयी हुए और राक्षस मारा गया।

माद्रीनन्दन नकुल और सहदेव कुन्ती के सौतेले बेटे थे। किन्तु आजीवन कुन्ती के व्यवहार में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिससे इस बात का आभास हो कि उन्होंने अपने निज पुत्रों और सौतेले पुत्रों में कभी भी कोई भेद किया हो। इतना ही नहीं अपितु वे अपने पुत्रों की अपेक्षा सौतेले पुत्रों को ही अधिक चाहती थीं। जुए में हारकर

पाण्डव जब बन जाने लगे तब कुन्ती ने द्रौपदी से अपने सौतेले पुत्र सहदेव को सदैव विशेष देख भाल करने को कहा था, जिससे उसे कोई कष्ट न हो[२]।

वाराणावत से बच निकलने के पश्चात् पाण्डव भिक्षा वृत्ति द्वारा अपना जीवन निर्वाह कर रहे थे। इसी समय उन्हें पांचाल नरेश के घर होने वाले स्वयंवर का समाचार मिला। यहाँ अर्जुन ने अपनी अलौकिक धनुर्विद्या से पांचाली द्रौपदी को प्राप्त कर लिया। जब पांचालराज को पाण्डवों का वास्तविक परिचय ज्ञात हुआ तब वे बड़े प्रसन्न हुए तथा उन्होंने आदर पूर्वक पाण्डवों को माता कुन्ती सहित अपने महल में रखा।

पांचाली का पाण्डवों से विवाह तथा पांचालराज द्वारा पाण्डवों की सहायता का समाचार पाकर धृतराष्ट्र को अपनी नीति बदलनी पड़ी[३]। उन्होंने विदुर को भेज कर कुन्ती तथा द्रौपदी सहित पाण्डवों को हस्तिनापुर बुला भेजा। उनके आने पर धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को आधा राज्य दे दिया। युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाई। उनका राज्य उन्नत और समृद्ध था। कुन्ती अब राजमाता थी। किंतु कुन्ती के दुख के दिन अभी बीते नहीं थे। युधिष्ठिर शकुनि और दुर्योधन के जाल में फँसकर अपना सर्वस्व जुए में हार गए तथा उन्हें सब कुछ छोड़कर बारह वर्ष तक वनवास तथा

२. महा० सभा०। ७९-८
३. Great Women of India p. p. 174

एक वर्ष तक अज्ञात वास स्वीकार करना पड़ा। तेरह वर्ष की इस लंबी अवधि में माता कुन्ती विदुर के घर रहीं। राजमाता पुनः समान्य जीवन यापन करने को बाध्य हुईं।

अवधि समाप्त कर जब पाण्डव लौटे तब दुर्योधन ने धृष्टता पूर्वक अपना वचन भंग कर दिया और पाण्डवों को सुई की नोक के बराबर भूमि भी देने को राजी न हुआ। भगवान् कृष्ण संधि का अंतिम प्रयत्न करने हस्तिनापुर गए। किंतु वे सफल न हो सके। लौटते समय उन्होंने विदुर के घर कुन्ती से भेंट की और उनसे पाण्डवों को देने के लिए संदेश पूछा। क्षत्राणी का तेज जाग उठा। सिंहनी की भाँति कुन्ती ने वीरता पूर्वक संधि के विरुद्ध और युद्ध के पक्ष में अपना मत दिया। भगवान् कृष्ण को पाण्डवों के लिए संदेश देते हुए कुन्ती ने कहा, "केशव! युधिष्ठिर से कह देना कि इससे बड़ी दुख की बात मेरे लिए और क्या हो सकती है कि तुम्हें जन्म देकर भी मैं एक निराश्रित नारी की भाँति दूसरों के अन्न के लिए मुँह ताकती हूँ। यदि तुम मेरा दुख दूर करना चाहते हो तो उठो, धर्म पूर्वक युद्ध करो। कायर बनकर अपने पूर्वजों का नाम मत डुबाओ! भाइयों सहित पुण्य से वंचित होकर पाप के भागी न बनो[४]।" इसी समय कुन्ती ने मनुष्य के चरित्र का जो मापदण्ड बताया था, वह आज भी मानव-चरित्र को परखने की कसौटी है। उन्होंने कहा था—"मैं तो उस कौरवसभा में सबसे अधिक आदर

४. महा० उद्यो० १३२। ३३-३४

विदुरजी को देती हूँ। मनुष्य अपने सदाचार से श्रेष्ठ होता है—धन या विद्या से नहीं[५]।"

विलंब से ही क्यों न हो किन्तु अंतिम विजय सत्य की असत्य पर, न्याय की अन्याय पर अवश्य ही होती है। महाभारत का भाग्य-निर्णायक युद्ध हुआ। अन्यायी कौरव पराजित हुए और धर्मराज युधिष्ठिर की विजय हुई। कुन्ती पुनः राजमाता बनीं। उनके दुर्दिन समाप्त हुए किंतु उनके मन में किसी प्रकार का अभिमान या प्रतिशोध न आया। वे वैसी ही कर्त्तव्यपरायणा बनी रहीं तथा अपने जेठ धृतराष्ट्र और जेठानी गांधारी की सेवा करती रहीं।

इस विनाशकारी युद्ध के कुछ वर्षों पश्चात् महाराज धृतराष्ट्र ने वन में जाकर अपना शेष जीवन ध्यान-धारणा में व्यतीत करने का निश्चय किया। महाराज का निश्चय सुनकर विदुर और संजय ने भी उनका पदानुगमन करने की इच्छा व्यक्त की। दोनों ही का राजा धृतराष्ट्र से लगाव था। गांधारी पति का अनुसरण करने के लिए कटिबद्ध थी हीं।

और अब कुन्ती के सुख के दिन थे। उनके अजेय पुत्रों ने माँ के चरणों में स्वर्गीय संपदा लाकर रख दी थी। कुन्ती अब राजाधिराज,सम्राट युधिष्ठिर की माता थीं। संसार का वैभव उनके चरणों में लोट रहा था। सैकड़ों दास-दासियाँ

---

५ महा० उद्यो० ९० । ५३

उनकी सेवा में रत थीं। उनके लिए कोई भी सुख या सुविधा दुष्प्राय नहीं थी। उनके आज्ञाकारी पुत्र और पुत्रवधू अपनी माँ की साधारण से साधारण इच्छा को भी पूर्ण करने के लिए लालायित रहते थे।

किन्तु सुख-सुविधाएँ, वैभव विलास तथा धन-संपत्ति के तीव्र आकर्षण कुन्ती को कर्त्तव्य-पथ से न डिगा सके; अपितु इन प्रलोभनों के मध्य कुन्ती का त्याग, उनका व्यक्तित्व और अधिक निखर उठा। कर्त्तव्य की परीक्षाग्नि में वे खरी उतरीं। कर्त्तव्य परायणता का चरम आदर्श उपस्थित करते हुए कुन्ती ने घोषणा की—"मैं भी अपने जेठ और जेठानी के साथ वन जाकर तपस्या पूर्ण जीवन व्यतीत करती हुई उनकी सेवा करूँगी।"

माता का कठिन निश्चय सुनकर पाण्डव व्याकुल हो उठे। उन्होंने कुन्ती से आग्रह किया—"माँ! जीवन भर कष्ट भोगने के पश्चात् अब कहीं तुम्हें थोड़ीसी सुख-सुविधा मिल सकी है और हमें तुम्हारी सेवा का सुअवसर प्राप्त हो सका है। हमें इस पुण्य कार्य से वंचित न करो। तुम यहीं राजमहल में रहकर तपस्या पूर्ण जीवन व्यतीत करो। तुम वन में न जाओ, माँ!"

पर पुत्रों का प्रेमपूर्ण आग्रह, पुत्र-वधुओं का विलाप, संतान का मोह, कोई भी कुन्ती को उनके निश्चय से न डिगा सका। सारा वैभव-विलास और सुख-सुविधाएँ छोड़कर राजमाता कुन्ती एक सामान्य तपस्विनी के रूप में महाराज

धृतराष्ट्र और गांधारी के साथ वन की ओर चल पड़ीं। वन में नाना प्रकार के कष्ट सहते हुए उन्होंने बड़ी लगन और श्रद्धा से अपने जेठ-जेठानी की सेवा शुश्रूषा की तथा उन्हीं के साथ वड़वानल में एक दिन अपनी आहुति देकर जीवन धन्य कर लिया।

कुन्ती का शरीर सहस्रों वर्ष पूर्व नष्ट हो गया किन्तु उनकी कीर्ति, उनका सुयश आज भी अमर है और तब तक अमर रहेगा जब तक सूर्य और चन्द्रमा उदित और अस्त होते रहेंगे।

यदि ईश्वर है, तो हमें उसे देखना चाहिए। यदि आत्मा है, तो हमें उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति कर लेनी चाहिए; अन्यथा उस पर विश्वास न करना ही अच्छा है। ढोंगी बनने की अपेक्षा स्पष्टरूप से नास्तिक बनना अच्छा है।

— स्वामी विवेकानन्द

प्रभु-कृपा सर्वत्र सर्वदा

ब्रह्मचारी महेश, रामकृष्ण मिशन, नई-दिल्ली

"कृपारूपी हवा तो चल रही है, तुम अपना पाल तान दो"
— रामकृष्ण परम हंस

— हृदय के सब द्वार और झरोखे खोल दो; प्रकाश स्वयं अपना रास्ता बना लेगा। द्वार और झरोखे बंद करके 'प्रकाश है ही नहीं' ऐसा न कहो।

विषय-कामना के कुसंस्कारों ने हमें अपने सच्चिदानन्द, परिपूर्ण, नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वरूप का विस्मरण करा जीवभाव को प्राप्त कराया है और इन संस्कारों से सना हुआ मन जीव को चौरासी लाख योनियों में भ्रमाता रहता है। फिर कभी कुछ शुभ संस्कारों का उदय होता है कि विषय की दुर्गन्ध-वायु आकर उन्हें बहा ले जाती है। शुभ और अशुभ संस्कारों की कशमकश ही जीवन है।

विषयप्राप्ति के लिये जीव की चेष्टा अशुभ संस्कारों को जन्म देती है तथा मन को मलिन कर अध्यात्म पथ से भटका देती है; ईश्वर-प्राप्ति के लिये जीव की चेष्टा शुभ संस्कारों को जन्म देती है तथा मन को निर्मल कर अध्यात्म पथ में अग्रसर करती है। ज्यों ज्यों कुसंस्कारों का क्षय होता है तथा शुभ संस्कारों का उदय होता है, जीव भाव नष्ट होने

लगता है तथा ईश्वरीय भाव का स्मरण होने लगता है। यही है प्रभु कृपा।

प्रभु की अमृतमयी कृपा सभी पर निरन्तर समान रूप से बरस रही है किन्तु भिन्न भिन्न पात्र उसे अपनी अपनी शक्ति के अनुसार ग्रहण कर पाते हैं। तमसाच्छन्न माया बद्ध जीव कहते हैं, "जब भगवान् की कृपा होगी तो साधन भजन हो जायगा।" ऐसा कहना उतना ही युक्ति-संगत है जितना कि कमरे के सभी द्वार और खिड़कियाँ बंद करके हम कहें कि सूर्य है ही नहीं, जब वह चाहेगा तो प्रकाश हो जायगा। कमरे में वीणा जब रही है और बाहर बैंड। भला वीणा की मन्द झंकार उसके शोर में कैसे सुनाई दे। दरवाजे-खिड़कियाँ बन्द कर लो मधुर झंकार सुन पाओगे। प्रभु तो कृपा और आनन्द की झंकार निरंतर कर रहे हैं परन्तु विषयों के कोलाहल में वह सुनाई नहीं दे रही है। विषयों के कोलाहल को मन के भीतर न घुसने दो, भगवत्कृपा की झंकार सुन पाओगे। मन को तो तुमने विषय के विष से भर लिया है, अब अमृत जो निरन्तर झर रहा है उसे कहाँ भरोगे? सोच-सोच में समय निकल जाता है। परन्तु बुद्धिमान मन के प्याले को खाली कर बरसती कृपा से भर लेते हैं।

श्री रामकृष्ण परमहंस देव कहा करते थे, "भगवान् की कृपा-रूपी हवा तो चल ही रही है, तुम अपना पाल तान दो।" कभी कहते, "पूरी तरह उनके ही सहारे रहो, आँधी में जूठी पत्तल बन जाओ (जिधर हवा ले जाय पत्तल वहीं

चली जाती है)।" किन्तु हमें भूलना न चाहिए कि जैसे पाल बिना खोले हवा अपना काम नहीं करती, किन्तु यदि कभी हवा इतनी जोर की हो कि पाल स्वयं खुल पड़े अर्थात् बिना प्रयत्न ही कृपा का ज्ञान हो जाय, तो यह है उनकी विशेष कृपा। उसी प्रकार तनिक साधना बिना किये कृपा अपना कार्य नहीं करती। साधना केवल कृपा प्राप्त करने के लिये होती है, ईश्वरप्राप्ति के लिए नहीं, ईश्वरप्राप्ति तो उनकी कृपा से ही होती है। वे कोई खरीदी जानेवाली वस्तु हैं नहीं कि इतनी साधना करने से उनकी प्राप्ति अवश्य ही होगी। इन सब साधनाओं से तन, मन, बुद्धि की पवित्रता होती है। प्रबल अनुराग, विवेक, ध्यना-धारण से ईश्वरकृपा के हम पात्र बनते हैं। स्वामी विवेकानन्द जी का कथन है, "भगवान् प्रकृति के सब नियमों से परे हैं। श्री गुरुदेव (रामकृष्णदेव) जैसा कहा करते थे, 'उनका (भगवान् का) स्वभाव बच्चों के समान है।' इस कारण यह देखने में आता है कि किसी किसी ने करोड़ों जन्मों से उन्हें पुकारा, किन्तु उनसे कोई उत्तर न पा सका। और फिर जिसको हम पापी, तापी और नास्तिक समझते हैं, उसमें एकाएक चैतन्य का प्रकाश हो गया। उसके न माँगने पर भी भगवान् ने उस पर कृपा कर दी। तुम यह कह सकते हो कि वह पूर्वजन्म का संस्कार था, परन्तु इस रहस्य को समझना कठिन है।"………

"कृपा है उनकी मौज। यह सारा जगत्-सर्जन ही उनकी मौज है—लोकवत्तु लीला कैवल्यम्—जो अपनी इच्छा मात्र से इस जगत् को तोड़ और बना सकता है, वह क्या

अपनी कृपा से किसी महापापी को मुक्ति नहीं दे सकता ? यह जो किसी किसी से कुछ साधन-भजन करा लेते हैं और किसी से नहीं कराते, यह भी उन्हीं की लीला है, उन्हीं की मौज है ।"...... "परन्तु याद रखना, जिन्हें हम महा-पापी समझते हैं, उनके मन में अत्यन्त अशान्ति आई थी, भोग करते करते वितृष्णा आगई थी, अशान्ति से उनका हृदय जल रहा था; वे हृदय में इतनी कमी अनुभव कर रहे थे कि यदि उन्हें कुछ शान्ति न मिलती तो उनकी देह छूट जाती, इसलिये उनपर भगवान् की दया हुई थी वे लोग तमोगुण से निकलकर धर्मपथ में उठे थे । यह भी तो एक प्रकार की चेष्टा ही है ।"

मछली सदा जल में रहती है परन्तु जब तक पलटा न खायेगी प्यासी ही रहेगी, मर जायगी; उसी प्रकार हम सदा प्रभु की उपस्थिति में हैं अर्थात् कृपा भी सदा ही है परन्तु जो मन-प्राण से उसका अनुभव करने के लिये छट-पटाएगा, वही पायेगा । तभी तो ईसा मसीह ने कहा, "दरवाजा खटखटाओ और वह खुल जायगा ।" कुछ न कुछ उद्यम तो करना ही होगा । श्री रामकृष्ण देव ने इस प्रसंग में एक दिन कहा था, "साधन-भजन यदि मनुष्य के हाथ में होता, तब तो सभी लोग उसका अनुष्ठान कर सकते — किन्तु मनुष्य वह क्यों नहीं कर पाता है ? बात यह है कि उन्होंने तुमको जितनी शक्ति दी है, यदि तुम उसका समु-चित उपयोग न करो तो वे उससे और अधिक नहीं देंगे । इसलिये पुरुषार्थ या उद्यम की आवश्यकता है । देखो न,

सभी को कुछ न कुछ उद्यम करके ही ईश्वर-कृपा का अधिकारी बनना पड़ता है। ऐसा करने पर उनकी कृपा से दस जन्म के भोग एक ही जन्म में समाप्त हो जाते हैं। किन्तु (उन पर निर्भर शील होकर) कुछ न कुछ उद्यम करना ही पड़ता है।"

जीवन का प्रत्येक अंश प्रभु कृपा से परिपूर्ण है। पशु-पक्षी आदि असंख्य योनियों की सृष्टि कर प्रभु ने महान् कृपा की है क्योंकि इन योनियों में हम बहुत से संस्कारों को भोग कर नष्ट कर देते हैं। अवशेष शुभाशुभ संस्कारों की संतुलित पोटरी ले हमें यह देवदुर्लभ मानवदेह प्राप्त होती है, जो साधन धाम है और मोक्ष का द्वार है। यही एकमात्र योनि है जिसमें हमें साधना द्वारा शेष संस्कारों को समाप्त कर ईश्वरप्राप्ति का सुअवसर मिलता है।

जैसे जैसे अशुभ संस्कार नष्ट होते जाते हैं, शुभ कर्मों में प्रवृत्ति अधिक होती है, मन शुद्ध होता है और हम भगवत्कृपा का अनुभव कर पाते हैं। यही क्या कम कृपा है जो प्रभु ने यह शरीररूपी क्षेत्र दिया जिसमें मन, इन्द्रिय और बुद्धि रूपी जल को बाँध कर मनुष्य भक्ति के बीज सींचकर मुक्ति के फूल उगा सकता है। परन्तु जो ऐसी मानवदेह पाकर विषय के बीज सींचकर बन्धन के काँटे उगाता है, वह प्रभुकृपा का अपमान कर जन्म-मरण के चक्कर में भ्रमता रहता है। परन्तु प्रभु की कृपा अनन्त है। ऐसे नासमझ के ऊपर भी वे कृपा का अभाव नहीं होते देते

और अन्त में सभी को एक न एक दिन अपनी कृपा का अनुभव करने का सुअवसर देते ही हैं, चाहे कई जन्मों के बाद ही क्यों न हो। जो प्रभु की कृपा प्राप्त करने की चेष्टा करता है, वह गुरू एवं शास्त्रों के बताये साधन-पथ पर प्रवृत्त होता है। जब साधक प्रभु को पाने के लिये व्याकुल हो जाता है, तो अँधेरे में से कोई हाथ उसे आ सँभालता है; प्रभु की कृपा से कोई प्रभु का दीवाना जो उन्हें पा चुका होता है, आकर उसे रास्ता दिखा जाता है।

साधारणतया साधना का मार्ग तूफानी समुद्र की भाँति आरम्भ होता है। ठोकरें, असफलताएँ, दुःख, अनिष्ट, विपत्तियाँ, रोग, यहाँ तक की मृत्यु, सभी आते हैं जो देखने में तो अभिशाप प्रतीत होते हैं पर वास्तव में वरदान हैं नइ के। द्वारा पूर्व कुसंस्कार नष्ट हो जाते हैं और प्रभुकृपा की प्राप्ति सुलभ हो जाती है। साधना के समय अनगिनत दबे संस्कार उभरने लगते हैं और साधना में बाधाएँ खड़ी कर देते हैं। देखने में यह विघ्न-सा लगता है परन्तु वह सफलता की निशानी है। धीर पुरुष इस दुर्गम समय में धैर्य रखते हैं और इसलिए सफल भी होते हैं। अतएव जी-जान से लगे रहना होगा। स्वामी विवेकानन्द जी का कथन है, "यदि उनकी कृपा प्राप्त करनी हो तो पहले शुद्ध-पवित्र बन जाना चाहिये; तन-मन-वचन से पवित्र होने पर ही उनकी कृपा होती है।"............"तुझे जी-जान से कोशिश करते देखकर ही वे कृपा करेंगे। उद्यम या प्रयत्न न करके यदि तू बैठा रहे, तो कभी कृपा न होगी।"

माँ का प्यार तो बच्चे पर सदा ही रहता है, परन्तु हर समय वह बच्चे को गोद में नहीं रखती। उसके रोने पर या माँ को पुकारने पर वह उसे गोद में उठाती है। ऐसे ही, भगवान् की कृपा सभी पर सदैव है। जो प्रभु की गोदी के लिये रोते हैं, प्रभु उसे छाती से लगा लेते हैं।

—:—

निर्विवेक तथा बाल्य कोपोन्मादेन यौवनम्।
वृद्धत्वं विकलत्वेन सदा सोपद्रवं नृणाम्॥

—बचपन में अविवेकिता, जवानी में क्रोध-उन्माद और बुढ़ापे में विकलता— इस प्रकार मनुष्य के पीछे सर्वदा एक न एक उपद्रव लगा रहता है।

अन्न का माहात्म्य

(१)

उस वर्ष कुरुदेश में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। खेतों में एक दाना भी नहीं उगा। तालाब और सरोवर सूख गये। नदियों की धारा अदृश्य हो चली। पशु-पक्षी भूख और प्यास से तड़प-तड़पकर मरने लगे। लोग-बाग अपना मकान और जमीन छोड़कर दूसरे गाँवों और नगरों में भागने लगे। कृषकगण प्रतिदिन चातक की नाईं आकाश की ओर ताकते रहते, पर इन्द्रदेव को तनिक भी दया नहीं आई। चहुँओर विनाश की तांडव लीला होने लगी।

उषस्ति परम विद्वान् चक्र के पुत्र थे। वे वेदों के ज्ञाता और शास्त्रों के मर्मज्ञ थे। उनकी विद्वत्ता की धाक चारों दिशाओं में फैली हुई थी। दूर-दूर से उन्हें यज्ञकर्मों में भाग लेने के लिए बुलाया जाता था। सामवेद के वे मूर्धन्य ऋषि थे। मधुर स्वर से जब वे सामगायन करते, श्रोतागण झूम झूम जाते। ऋचाओं का पाठ करते समय मानों मंत्रों की अनुभूनियाँ साकार हो उठतीं; यज्ञ के आयोजक के मनोरथ पूर्ण होने में कोई सन्देह न रह जाता। उन्हें प्रचुर दान भी प्राप्त होता था। पर वे उसका अत्यल्प भाग अपने पास रखकर बाकी गरीबों में बाँट देते। फल यह हुआ कि वे कुछ भी संचय न कर पाये। इस भीषण अकाल में उनके

भी घर में दाने के लाले पड़ने लगे। बन्धु-बान्धवों ने सहायता से मुँह फेर लिया। अतः निराश हो अपनी अल्प-वयस्का पत्नी आटिकी को लेकर वे जीविका की खोज में घर से निकल पड़े।

चलते चलते दोपहर हो गई। धरती धू-धू करती हुई जल रही थी। सूर्य के प्रचंड ताप से उनका शरीर झुलस गया। पैरों में छाले पड़ गए। कई रोज से पेट में अन्न का दाना नहीं गया था। उनकी सुकुमार पत्नी जिसने इसके पहले दरवाजे के बाहर शायद पैर न दिया हो, लड़खड़ाकर गिर पड़ी। उषस्ति ने किसी प्रकार उसे सँभाला और समीपवर्ती ग्राम में ले गए। गाँव में वीरानी छाई हुई थी। बाहर कोई नजर नहीं आ रहा था। एक मकान के पास पहुँचकर उन्होंने दरवाजा खटखटाया। एक वृद्ध बाहर निकला। उसका शरीर अस्थिचर्मावशिष्ट मात्र था। उसने उषस्ति की दशा देखकर उन्हें अंदर आने का संकेत किया। उनकी पत्नी जिसने अब तक अपने को किसी प्रकार सँभाल रखा था, वहीं बेहोश होकर गिर पड़ी। उषस्ति ने उसपर पानी के छींटे दिये और उसे होश में लाया। वृद्ध वहाँ अकेला था। अतिथियों की दशा देखकर व्यथित हो उठा। पर वह असहाय था। उसके घर में भोजन का एक दाना भी नहीं था। अपनी पत्नी को वहीं छोड़कर उषस्ति भोजन की तलाश में निकल पड़े।

उस गाँव में महावत निवास करते थे। उनके झोपड़े दूर-दूर पर बने हुए थे। उषस्ति ने झोपड़ों में जाकर भोजन

की याचना की। पर उषस्ति को कहीं भी भोजन प्राप्त नहीं हो सका। क्षुधाकातर हो वे इधर-उधर भटकने लगे। कुछ दूर जाने पर देखा, एक व्यक्ति झाड़ के नीचे बैठा हुआ कुछ खा रहा है। वे शीघ्रता से उसके पास पहुँचे। भूख से उनकी अँतड़ियाँ बाहर निकली जा रही थीं। दीन स्वर से उन्होंने उससे कुछ भाग देने की प्रार्थना की। वह महावत उनको पहिचान गया। पहले कई बार उनके गृह में उसने यथेष्ट धन लाभ किया था। उनकी यह दशा देख उसकी आँखों में आँसू भर आये। वह बोला, "भगवन्, यह जूठा उड़द मैं आपको कैसे दे सकता हूँ! इस पाप से मैं कैसे बचूँगा?" उषस्ति बोले, "भाई, एक मरते हुए व्यक्ति को बचाना, पाप नहीं वरन् पुण्य है। तुम्हारी जूँठन खाने से यदि मैं जीवित रह गया, तो तुम्हें पुण्य ही प्राप्त होगा। यह आपद् धर्म है। शरीर-रक्षा के लिए जूठा अन्न खाना धर्म-विरुद्ध नहीं।" बड़ी कठिनाई से वह महावत माना और उसने सारा उड़द उन्हें दे दिया। उषस्ति बड़ी तृप्ति के साथ वह उड़द चबाने लगे मानो भिखारी को राजप्रासाद के सुमिष्ट व्यंजन प्राप्त हो गये हों। अब उनकी जान में जान आई। पर प्यास से उनका गला सूखा जा रहा था। महावत यह ताड़ गया और उसने अपना जूठा जल उनके संमुख रख दिया। पर उषस्ति ने वह जल नहीं लिया और विनम्रता पूर्वक उसे जूठा बतलाते हुए वापस कर दिया। महावत यह देखकर विस्मित हो गया। वह बोला, 'द्विज-प्रवर, आपने मेरा उच्छिष्ट उड़द तो ग्रहण कर लिया, पर

यह जल क्यों नहीं ले रहे हैं ? उषस्ति बोले, "वत्स, अगर तुमने यह उड़द न दिया होता तो मेरे प्राण शेष न रहते। तुम्हारे जूठे उड़दों ने ही मेरे प्राणों की रक्षा की। आपद्-धर्म में यह कर्म क्षम्य है। पर मैं देखता हूँ कि जल के बिना मैं कुछ समय तक जीवित रह सकता हूँ। इस अवस्था में मैं यदि तुम्हारा जल ग्रहण करलूँ तो यह पाप कर्म होगा। इसीलिए मैंने जल लौटा दिया।" धर्मनिष्ठ ब्राह्मण की बात सुनकर महावत चुप रह गया।

उषस्ति कुछ उड़द बचाकर अपनी पत्नी के लिये ले आये और उसे दे दिया। तदन्तर वे जल की तलाश में निकल पड़े। कुछ दूरी पर एक नदी थी। कहीं कहीं गढ़ों में जल भरा हुआ था। उन्होंने जी भर पानी पिया और अपनी पत्नी के लिये जल ले आए।

दूसरे दिन प्रातःकाल उषस्ति ने शैय्या त्यागी। कमजोरी के कारण उनसे उठा नहीं जा रहा था। उन्होंने अपनी पत्नी से कहा, "आज यदि कुछ भोजन प्राप्त हो जाता, तो किसी धनिक के पास जाकर कुछ धन प्राप्त कर लेता। अभी तो मुझमें उठने की भी शक्ति नहीं है।" उनकी पत्नी ने कहा, "आप तैयार हो जाइये। मैं भोजन का प्रबंध करती हूँ।" उषस्ति आश्चर्य से उसके मुँह की ओर ताकने लगे। पत्नी ने पुनः कहा, "आप प्रातः कर्म से निवृत होकर आइये।" स्नान-ध्यान से निवृत्त होकर जब उषस्ति लौटे, तो देखते हैं, कल का उड़द उनके सामने धरा है। "यह क्या ! तुमने कल यह उड़द नहीं खाया ?" उन्होंने विस्मय

से पत्नी की ओर देखते हुए कहा। "नहीं, कल उस बूढ़े बाबा ने मुझे भूख से व्याकुल देखकर कहीं से थोड़ा सा खाना ला दिया था। इसीलिये इसे आज के लिये रख छोड़ा।" उषस्ति पत्नी की बुद्धिमत्ता देखकर बड़े प्रसन्न हुए। पर कैसी विडंबना है भाग्य की! कल तक जो व्यक्ति दूध और दही में नहाता था, उसे आज अन्न का दाना मयस्सर नहीं होता। कल जिसके यहाँ सैकड़ों व्यक्ति भोजन कर तृप्ति लाभ करते थे, आजा वह सूखे दानों के लिये दर-दर मारा फिर रहा है। नियति के रहस्य समझे नहीं जा सकते! पर उषस्ति विवेकी थे। ईश्वर पर उनका अटल विश्वास था। वे जानते थे कि सुख के साथ दुख लगा ही रहता है। वे मानो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसीलिये इस दुर्भाग्य-पूर्ण अवस्था में भी वे विचलित नहीं हुए। ऐसी विकट परिस्थिति भी उन्हें स्वधर्म-पालन से च्युत नहीं कर सकी। उन्हें उड़द के सूखे दाने चबाते देख आटकी रो पड़ी। उसे ढाढ़स बँधाकर वे काम की खोज में निकल पड़े।

(२)

यज्ञशाला में बड़ी चहल-पहल थी। यज्ञ प्रारंभ होने ही वाला था। कुरुदेश के राजा ने वर्षा-प्राप्ति के लिये इस विशाल यज्ञ का आयोजन किया था। अनेक ऋत्विजगण इस पुनीत कार्य के संपादक के लिये उपस्थित थे। सामवेद के सुमधुर गायन से यज्ञमंडप गूँज उठा। यज्ञ की धूम-शिखा विस्तृत आकाश में फैलने लगी। उसकी सुगन्ध

वातावरण में तैरने लगी। यज्ञ प्रारंभ हुआ ही था कि अचानक गंभीर कड़कती हुई आवाज यज्ञमण्डप में गूँज उठी, "ठहरो !" पुरोहित गण हतप्रभ हो, जिधर से आवाज आई थी, उधर देखने लगे। सारा जनसमुदाय स्तब्ध रह गया। लोगों ने देखा कि एक कृषकाय ब्राह्मण धीरे धीरे चलकर प्रस्तोता के पास आकर खड़ा हो गया और बोला, "हे प्रस्तोता, क्या तुम प्रस्ताव के देवता के बारे में जानते हो ? जिनकी स्तुति में तुम यह गायन कर रहे हो उनके स्वरूप का क्या तुम्हें ज्ञान है ? यदि नहीं, तो जान लो, उनके ज्ञान के बिना यदि तुमने प्रस्ताव का गायन किया तो तुम्हारा सिर धड़ से अलग हो जायेगा।" "और हे द्विज-प्रवर !" उसने उद्गाता की ओर घूमकर कहा, "यदि तुमने उद्गीथ के देव के बारे में बिना जाने उद्गीथ का गायन किया तो तुम्हारा सिर कटकर गिर जायेगा।" उसी प्रकार उसकी गुरु गंभीर वाणी प्रतिहर्ता की ओर मुखरित हुई, "हे प्रतिहर्ता, यदि तुम्हें प्रतिहार के देवता का ज्ञान नहीं है तो उसका गायन मत करो, अन्यथा तुम्हारी भी वही दशा होगी जो इनकी होगी।"

पूरी सभा में सन्नाटा छा गया। ऋत्विजगण इस आकस्मिक घटना से अस्थिर हो उठे। उस दुबल व्यक्ति की वाणी में ऐसी शक्ति थी कि तीर की नाईं उसके शब्द हृदय में प्रवेश कर गये। पुरोहितगण किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये। वह व्यक्ति और कोई नहीं,वरन् उषस्ति थे। लोगों के द्वारा यज्ञ के आयोजन का पता लगने पर वे इधर चले आये। आकर

उन्होंने देखा कि ऋत्विजों को उन देवों के बारे में ज्ञान नहीं है जिनकी स्तुति वे कर रहे हैं।

सामवेद में अलग अलग देवताओं के लिए विभिन्न मंत्रों की रचना की गई है। ॐ से प्रारंभ होने वाला उद्गीथ साम-वेद के वे मंत्र हैं जिनका गायक उद्गाता कहलाता है। उसी प्रकार प्रस्ताव और प्रतिहार उसकी ऋचाएँ हैं जिनके गायक प्रस्तोता और प्रतिहर्ता कहलाते हैं। उद्गीथ, प्रस्ताव और प्रतिहार के देवगण भिन्न भिन्न हैं। ऋत्विजों को इनका ज्ञान होना आवश्यक था; अन्यथा यज्ञ का पूरा फल प्राप्त न हो पाता। फिर, यदि यह ज्ञान न रखने वाले पुरोहित गण इसका गायन किसी ऐसे व्यक्ति के संमुख करते, जिसे इन समस्त देवों के बारे में पूर्ण जानकारी है, तो इससे उनका ही अनिष्ट होता। इसीलिए उषस्ति ने उन्हें चेतावनी दी थी।

राजा भी यह अप्रत्याशित घटना देखकर हतप्रभ हो गए थे। उन्होंने पास आकर उषस्ति को प्रणाम किया और बोले, "महात्मन्! क्या मैं आपका परिचय पा सकता हूँ?" "राजन्! मैं उषस्ति हूँ, महर्षि चक्र का पुत्र," उषस्ति ने उत्तर दिया। "मेरे अहोभाग्य!" राजा हर्ष से प्रमुदित हो उठे। वे बोले, "भगवन्, इस यज्ञकार्य के लिए आपका बहुत पता लगवाया, किंतु आपका पता पाने में असमर्थ रहा। इसीलिये यह कार्य इन ऋत्विजों को सौंपा है। मेरे सौभाग्य से आपके दर्शन हो गए। अब आप ही यज्ञ का कार्यभार सँभालिए।"

अपनी प्रशंसा सुनकर संकोच से उषस्ति का मन भर गया। विनीत भाव से वे बोले, "राजन्, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, पर मैं प्रार्थना करता हूँ कि इन पुरोहितों को अलग न करें। ये मेरे कथनानुसार सामगायन करेंगे। दूसरी प्रार्थना यह कि आप जितनी दक्षिणा इन्हें दें उतनी ही मुझे भी दें।" उनकी स्वीकृति से राजा बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें विश्वास हो गया कि उनका आयोजन पूर्णरूपेण सफल होगा।

इतने में प्रस्तोता ने बिनीत भाव से उषस्ति से पूछा, "महात्मन्! आप कृपया बतलाइये कि प्रस्ताव के देव कौन हैं?" उषस्ति बोले, "प्राण ही प्रस्ताव के देवता हैं। इस संसार की सभी वस्तुएँ प्राण में समा जाती हैं और प्राण से ही सबका उद्भव होता है। यदि तुमने इनकी जानकारी बिना प्रस्ताव का पाठ किया होता तो तुम्हारा मस्तक अलग हो जाता।"

उद्गाता की शंका का समाधान करते हुए उषस्ति बोले, "सूर्य ही उद्गीथ के देवता हैं। सभी सूर्य की प्रशंसा करते हैं क्योंकि वे अत्युच्च हैं। सूर्य उत् (ऊँचे) हैं और उद्गीथ का प्रारंभ भी उत् से होता है। सर्वत्र अपना प्रकाश बिखेर कर उल्लसित करने वाले अंशुमाली ही हैं। यदि तुम उन्हें बिना जाने ही उद्गान् करते तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता।" प्रतिहर्ता की ओर देखते हुए बोले, "प्रतिहार के देवता अन्न हैं। बिना भोजन के कोई जीवित नहीं रह सकता। अन्न ही जीवन का मूल कारण है। वह समस्त जीवों के प्राण का

आधार है। अन्न का प्रतिहरण किया जाता है इसीलिए उसे प्रतिहार का देवता कहा गया है। इस संसार में सभी प्राणियों की अवस्थिति अन्न के ही कारण है। यदि तुम इन्हें बिना जाने ही प्रतिहरण करते तो तुम्हारा मस्तक छिन्न हो जाता।"

उषस्ति की विद्वत्तापूर्ण वाणी से ऋत्विजों की समस्त शंकाएँ दूर हुईं। उनकी अध्यक्षता में यज्ञ संपन्न हुआ। यज्ञ समाप्त होते ही आकाश सघन मेघों से आच्छादित हो गया और मूसलाधार वर्षा होने लगी। सदा-सर्वदा के लिए अनावृष्टि कुरुदेश से बिदा हो गई और देश धन-धान्य से पूरित हो गया।

———

न हो ऋणी और न हो महाजन; क्योंकि ऋण दिया हुआ धन अपने को भी खो देता है और देने वाले मित्रों को भी। और ऋण लेने की आदत मितव्ययता की धार को मोटी कर देती है।

— शेक्सपीयर

सुख-संजीवनी

श्री संतोष कुमार झा

महाभारत का युद्ध अभी अभी समाप्त हुआ था। बचे हुए लोग अपने अपने स्वजन संबंधियों के श्राद्धादि कर्म कर रहे थे। महात्मा भीष्म रणभूमि में अभी भी शरशय्या पर पड़े देहत्याग के लिए शुभ घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे। इसी समय मृत्युञ्जयी भीष्म के पास शोकातुर युधिष्ठिर आये और अपने हृदय के शोक को दूर करने का उपाय पूछा। उनका हृदय दुख और ग्लानि से फटा जा रहा था। युधिष्ठिर के मन में यह बात शूल की भाँति चुभ रही थी कि उन्हीं के कारण यह भीषण नर-संहार हुआ तथा स्वयं पितामह भीष्म को शरशय्या का दारुण दुख सहना पड़ रहा था। जितने भी स्वजन-बंधु-बांधवों की मृत्यु हुई थी, जो महान् विनाश हुआ था, उसके लिए युधिष्ठिर अपने को ही कारण मानकर दुख से व्यथित हो रहे थे। इसीलिए वे पितामह के पास इस व्यथा से मुक्ति पाने का उपाय पूछने आये थे।

शोकरहित शरशय्याशायी पितामह ने युधिष्ठिर को माध्यम बनाकर मानव मात्र के लिए दुख-निवारण की जो संजीवनी प्रदान की है, वह आज भी हमें उपलब्ध है तथा उतनी ही प्रभावशाली है जितनी आज से सहस्रों वर्ष पूर्व थी,

जब कि वह पितामह भीष्म के मुख से निःसृत हुई थी।

किसी समय गौतमी नाम की एक विधवा ब्राह्मणी रहती थी। वह बड़ी सात्त्विक और साधु स्वभाव की थी। प्रभु की कृपा से जीवन-निर्वाह के लिए जो कुछ थोड़ा-बहुत मिल जाता, उसी से तृप्त रह कर वह अपना सारा समय ईश्वर की आराधना और शांति के साधन में लगाया करती थी। उसके एक पुत्र था। अभी वह किशोर ही था। बालक एक दिन कहीं बाहर खेल रहा था। पास में एक भयानक विषधर सर्प था। उसने बालक को डस लिया। कुछ ही क्षणों में बालक के प्राण पखेरू उड़ गये।

उसी गाँव में एक व्याध रहा करता था। उसका नाम था अर्जुनक। गौतमी ब्राह्मणी के प्रति उसकी बड़ी श्रद्धा थी। जब उसने देखा कि ब्राह्मणी का पुत्र एक सर्प के काटने से मर गया, तब उसे सर्प पर बड़ा क्रोध आया और वह फंदा लेकर उसे पकड़ने के लिये चल पड़ा। थोड़ी ही देर में उसने सर्प को फंदे में फँसा लिया। सर्प को बाँध कर वह गौतमी के पास आया और उससे कहने लगा, "माँ! इसी दुष्ट सर्प ने तुम्हारे पुत्र की हत्या की है। इसके द्वारा डसे जाने के कारण ही बालक की मृत्यु हुई है। अब तुम बताओ मैं इसे किस प्रकार का दण्ड दूँ। यदि तुम कहो तो मैं इसे जीवित जला दूँ, या इसके टुकड़े टुकड़े कर इसका वध कर दूँ।"

किन्तु शांति की साधना में विरत गौतमी ने कहा, "अर्जुनक, इसे छोड़ दे। तू अभी नहीं समझ पा रहा है।

तुझे इस सर्प को नहीं मारना चाहिए। होनहार को कोई नहीं टाल सकता। इस सर्प का वध कर देने पर मेरा पुत्र तो जीवित नहीं हो जायेगा। फिर, यदि यह जीवित रहे तो तेरी क्या हानि होगी? मैं ब्राह्मणी हूँ। ब्राह्मण कभी क्रोध नहीं करते। वत्स! तू भी कोमल बन और इस सर्प के अपराध को क्षमा कर दे। इसे छोड़ दे।"

व्याध ने साग्रह कहा, "देवि! इस दुष्ट सर्प से बहुतेरे मनुष्यों की रक्षा करनी होगी। यदि यह जीवित रहेगा तो अनेकों को डस लेगा। अतः इस सप को अवश्य ही मार डालना चाहिए।"

गौतमी ने पुनः समझाया, "बेटा इस सर्प का वध करने में मुझे कोई लाभ नहीं दीख पड़ता, अतः तू इसे जीवित छोड़ दे।"

व्याध के बारम्बार आग्रह करने और उकसाने पर भी गौतमी ने सर्प को मारने की अनुमति न दी।

उसी समय पाश की पीड़ा से व्यथित सर्प ने कहा, "व्याध! इस बालक की मृत्यु में मेरा क्या दोष है? मैं तो पराधीन हूँ। मुझे तो मृत्यु ने विवश कर इस कार्य के लिए प्रेरित किया था। उसकी प्रेरणा से ही मैंने इस बालक को डसा है। अपने क्रोध या प्रतिशोध के भाव से नहीं। इसलिए अपराध मृत्यु का है, मेरा नहीं। मैं निर्दोष हूँ अतः मैं वध्य नही हूँ।"

अपने ऊपर लांछन लगता देख मृत्यु देव भी वहाँ आकर उपस्थित हो गए। बहेलिये और सर्प को संबोधित करतेहुए

मृत्यु ने कहा, "भुजङ्ग! इस बालक की मृत्यु के लिए न तो तू दोषी है और न मैं ही दोषी हूँ। काल की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही मैंने तुझे इस बालक को डसने की प्रेरणा दी है। अतः हम दोनों ही इसकी मृत्यु के कारण नहीं हैं। क्योंकि मैं सर्वथा काल के अधीन हूँ।"

मृत्यु की बात सुनकर सर्प ने व्याध से कहा, "व्याध! तुमने भी तो मृत्यु की बात सुनी। मैं निर्दोष हूँ। मुझे बंधन में डाल कर कष्ट देना तुम्हारे लिए कहाँ तक उचित है?"

व्याध ने कहा, "भुजङ्ग, मैंने तेरी और मृत्यु दोनों की बातें सुनीं। किंतु इससे तुम दोनों निर्दोष नहीं सिद्ध होते बल्कि इससे तो तुम्हारा दोष ही सिद्ध होता है। तुम दोनों संयुक्त रूप से इस बालक की मृत्यु में कारण हो, अतः मृत्यु को धिक्कार है और तू वध्य है।"

मृत्यु ने व्याध को संबोधित करते हुए कहा, "अर्जुनक, हम दोनों ही काल के अधीन हैं इसलिए विवश हैं। हम तो उसके आज्ञानुवर्ती हैं, उसके आदेश का पालन मात्र करते हैं। यदि तुम ठीक ठीक विचार करो तो हम पर दोषारोपण नहीं करोगे। इस नाना रूपात्मक जगत् में जितनी भी चेष्टाएँ हो रही हैं, जितने भी क्रिया कलाप हो रहे हैं, वे सभी काल की प्रेरणा से ही हो रहे हैं। अतः हम लोगों ने भी उसी काल की प्रेरणा से कार्य किया है। फिर भला हम कैसे अपराधी हो सकते हैं?"

अपनी गतिविधि के संबंध में विवाद एवं भ्रांति देख कर

काल भी वहाँ आकर उपस्थित हो गए। उन्हों ने व्याध को संबोधित करते हुए कहा,

"व्याध! इस बालक की मृत्यु के लिये न तो यह सर्प दोषी है, न मृत्यु और न मैं ही। हम तो किसी की भी मृत्यु में प्रेरक या प्रयोजक नहीं हैं। अर्जुनक, इस बालक ने जो कर्म किया है, वही इसकी मृत्यु का प्रेरक हुआ है। जीव अपने कर्मों से ही मरता है। दूसरा कोई उसके विनाश का कारण नहीं हो सकता। हम सभी कर्म के आधीन हैं। हमें अपने अपने कर्मों के अनुसार ही फल प्राप्त होते हैं। हमारे अपने कर्म ही हमारे सुख-दुख के कारण हैं। अपने कर्मों के अनुसार ही मनुष्य अपने जीवन का गठन करता है तथा कर्मों के अनुसार ही हमारी मृत्यु का आयोजन होता है। अतः अर्जुनक! अब तुम स्वयं विचार करके देखो, भला हम लोग कैसे इस बालक की मृत्यु का कारण हो सकते हैं। बालक स्वयं अपने कर्मों के परिणाम स्वरूप अपनी मृत्यु का कारण हुआ है।"

काल द्वारा बताए गए इस तत्त्वज्ञान को सुनकर गौतमी ब्राह्मणी को भी यह निश्चय हो गया की मनुष्य का जीवन उसके अपने कर्मों द्वारा ही नियंत्रित और नियोजित होता है अतः उसने व्याध से कहा,

"व्याध! न यह सर्प न मृत्यु और न काल ही मेरे पुत्र की मृत्यु के कारण हैं। वह स्वयं अपने कर्मों के कारण सर्प द्वारा डसा जाकर मृत हुआ है। अर्जुनक, मैंने भी ऐसे कर्म किए थे जिससे मुझे यह पुत्र शोक प्राप्त हुआ है। किन्तु

मुझे अब कोई दुख नहीं है क्योंकि अब मैं जान गयी कि मैंने अपने ही कर्मों के द्वारा अपने लिए इस प्रकार की घटनाओं का सृजन कर लिया है। तुम सभी से मेरा निवेदन है कि तुम लोग अपने अपने गंतव्यों को चले जाओ और मुझे शांति की साधना में तत्पर रहने दो।"

जय (महाभारत) का यह आख्यान मनुष्य-जीवन की एक मौलिक समस्या का हल प्रस्तुत करता है। जब कभी हम पर दुख या विपत्ति आती है, हमारी इच्छा पूर्ण नहीं होती, हमारी आशाओं पर तुषारपात हो जाता है, हम असफल हो जाते हैं, तब हम अपने दुख-कष्ट-असफलताओं आदि का कारण अपने से परे दूसरों में ढूँढ़ने लगते हैं। हमें लगता है कि अमुक परिस्थिति, घटना या व्यक्ति के कारण ही हमारे मनोरथ पूर्ण नहीं हो सके। इस प्रकार के विचार हमें परावलम्बी तथा परमुखापेक्षी बना देते हैं। हमारी आस्था विलुप्त हो जाती है और आत्म विश्वास डगमगा उठता है। हम संसार के झंझावात के थपेड़ों से अशांत और दुखी हो जाते हैं। तथा हमारा जीवन एक दुखांत नाटक की भांति करुणा और विलाप में समाप्त होता है।

किन्तु दूसरी ओर, जिन व्यक्तियों की यह मान्यता है कि उन्हें जो भी कुछ प्राप्त हुआ है वह सब उनके स्वयं के कर्मों का फल है, तो उनका जीवन-दर्शन ही बदल जाता है। आपत्तियाँ-विपत्तियाँ, असफलताएँ-प्रतिकूलताएँ उन्हें दुखी एवं निराश न बनाकर पुरुषार्थी और उत्साही बना देती

हैं। वे लोग यह भली भाँति जानते हैं कि अपने दुख-सुख के लिये वे ही उत्तरदायी हैं, अतः उनका विश्वास है कि अपने पुरुषार्थ से वे पुनः मनोनुकूल सुख-सुविधा, सफलता-शांति प्राप्त कर सकते हैं।

कर्म के इस रहस्य को समझ लेने पर मनुष्य किसी के दुख से दुखी नहीं होता और न किसी सुख से स्पृहा करता है। दुख-सुख दोनों में सम भाव रहने के कारण उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है और चित्त की चंचलता दूर हो जाती है। चित्त की चंचलता के दूर होते ही मनुष्य को परम संतोष का अनुभव होता है और इस संतोष को पाना ही तो मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है।

यदि मुझे यह विश्वास हो जाय कि ईश्वर मुझे क्षमा कर देंगे और मनुष्य मेरे कुकर्म को न जान सकेंगे तब भी मुझे कुकर्म करते हुए लज्जा आयेगी।

— प्लेटो

बालकों के प्रति

(एक दास)

आनन्द की खोज—

इस जगत् में एक कार्य सभी कर रहे हैं —आनन्द की खोज। छोटे, बड़े, निर्बुद्धि, बुद्धिमान्, मानव, दानव, कीट, पतंग सभी आनन्द की खोज में सदा व्यस्त हैं। किंतु आनंद भी बुद्धि की नाईं सापेक्ष है। हर कोई एक ही वस्तु या परिस्थिति में आनन्द नहीं पाता। एक व्यक्ति एक वस्तु में आनन्द मनाता है तो दूसरा उसी से घृणा करता है। एक ही व्यक्ति आज एक वस्तु में आनन्द पाता है तो कुछ काल के पश्चात् वही वस्तु उसे फीकी जान पड़ती है। आज एक व्यक्ति प्याज बड़े स्वाद से खाता है किंतु वह जब उसे छोड़ देता है तो उसी को कुछ काल पश्चात् उसमें दुर्गन्धि का अनुभव होने लगता है। लड़के प्रारम्भ में बीड़ी पीना सीखते हैं तो खाँसी आती है फिर खाँसी कम हो जाती है और आनन्द आने लगता है। फिर बहुत वर्षों बाद उससे घृणा कर वही व्यक्ति उसका त्याग भी कर देता है। लोग निमंत्रणों में जाते हैं, भोज बड़े प्रेम से खाते हैं। अवश्यमेव उसमें आनन्द आता है। किंतु वे ही उपवास भी क्यों करते हैं ? इसलिए कि उसमें भी आनन्द आता है—उसमें दूसरे प्रकार का आनन्द आता है। बच्चे पिपरमेंट की टिकिया बड़े प्रेम से खाते हैं, उसके लिये

झगड़ते भी हैं किन्तु उसी समय कोई छोटा बच्चा हठ करने लगे तो उसे भी दे देते हैं। अर्थात् खाने में भी आनन्द है, नहीं खाने में भी और दूसरे को देने में भी। महायुद्ध के दिनों में इंग्लैंड में शक्कर नहीं मिलती थी। इस कारण जनता को बिना शक्कर की चाय पीने की आदत डालनी पड़ी। इसमें पहले पहले कष्ट का अनुभव हुआ। बादमें युद्ध समाप्त होने पर शक्कर मिलने लगी। फिर भी कुछ लोगों ने बिना शक्कर की चाय पीने की आदत न छोड़ी। कहते थे कि पुनः यदि ऐसा ही अवसर आया तो शक्कर छोड़ने में पुनः कष्ट होगा। इस बिना शक्कर की चाय में ही आनन्द है। यह मानों एक प्रकार का 'लाया हुआ आनन्द' है। बचपन में कपड़े बोझ मालूम पड़ते हैं। बिना कपड़ों के उछलने कूदने में एक प्रकार की स्वच्छन्दता का अनुभव होता है। कुछ आयु बढ़ने पर कपड़े पहनने में ही आनन्द आता है। पहले खेलने-कूदने में आनन्द आता है। कुछ वर्ष पश्चात् पढ़ने-लिखने में आनंद आने लग जाता है। इसी प्रकार कई बातों में पहले पहले कष्ट जान पड़ता है किंतु बाद में वही वही करते रहने की इच्छा होती है।

इस तरह जान पड़ता है कि आनन्द बड़ी ही चंचल वस्तु है जिसकी कोई ठीक ठीक परिभाषा नहीं। अर्थात् कहाँ आनन्द प्राप्त करना मानों अपने ही हाथ में है। इस कारण विचार करना होगा कि हम कौन सा आनन्द अपनायें। एक ऐसा आनन्द ढूँढ़ निकालना होगा जो हमें सदा साथ दे, जो क्षणिक या अल्पकाल स्थायी न हो एवं

कल्याणकारी भी हो। कल्याणकारी वस्तु में आनन्द प्राप्त करना सीखना होगा। ऊपर ऊपर दीखने वाले, जहाँ कहीं भी मिल जाने वाले आनन्द को छोड़ना होगा। यह चर्चा सांसारिक आनंद की हुई। सर्वोपरि तो परमानन्द है जो जीवमात्र का परमोच्च लक्ष्य है। मनुष्य-जीवन परमात्मा की ओर से उस सर्वोच्च आनन्द को प्राप्त करने के लिए ही यदा-कदा कृपा पूर्वक मिलता है।

जितने भी सांसारिक आनन्द विषयजन्य और इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले हैं, श्री भगवान् ने उनके विषय में गीता में कहा है कि ये सब प्रारम्भ और अंत होने वाले हैं, स्थायी नहीं, तथा इनके अंत में दुख ही उत्पन्न होता है। सर्वोच्च आनन्द वह है जो किसी वस्तु या परिस्थिति की प्राप्ति पर निर्भर नहीं। यह निरपेक्ष आनन्द है। कोई वस्तु या परिस्थिति प्राप्त हो या न हो, रहे या नष्ट हो जाये, यह आनन्द घटता नहीं, समाप्त नहीं होता। और भक्ति के आनन्द के विषय में तो कहा गया है कि वह तो बढ़ता ही जाता है, उसका बढ़ना समाप्त नहीं होता "यामें पूनो नाहिं"। यह ऐसी चन्द्र की कला है जिसमें पूर्णिमा ही नहीं, समाप्ति होती ही नहीं। इसी प्रकार के आनन्द के विषय में स्वामी रामतीर्थ ने कहा है— "आनन्द प्राप्त करने का स्थान यही है, आनन्द प्राप्त करने का समय यही है और इसको प्राप्त करने की विधि है दूसरों को आनन्द प्रदान करना"।

× × ×

मधुर उपदेश —

(१)

दुनिया के सब लोग अपनी अपनी बीमारियों और कठिनाइयों से तंग आकर भगवान् के पास पहुँचे। कोई बोला, "भगवान्, यह क्या मुझे खाँसी की बीमारी हो गई है। अरे, इससे तो टट्टी की बीमारी वाले ही अच्छे!" दूसरा बोला, "भगवान्, इस साँस की बीमारी से बवासीर वाले ही अच्छे।" तीसरा बोला, "इस बेकारी से तो मैं तंग आगया। इससे कोई भी दूसरी आफत अच्छी होती।" भगवान् को तो लीला प्रिय है। उन्होंने कहा, "भाई, तुम सब अपनी अपनी बीमारी और चिन्ता यहीं मेरे सामने एक ढेर लगाकर रख दो।" सब ने प्रसन्नता पूर्वक ऐसा ही किया। तत्पश्चात् भगवान् बोले, "अब अपनी अपनी पसंद की कोई भी दूसरी आफत बदल कर ले जाओ।" बड़ी देरतक सबने छाँट-बीन कर नये नये रोग और आफतें पसंद कीं और अपने अपने स्थान को चले। राहमें ही कोई कोई सोचने लगे, "अरे यह क्या! मुझे तो बार-बार पेशाब-पानी के लिये बैठना पड़ रहा है; इससे तो सिरदर्द ही अच्छा था। लेटे पड़े हैं, मजे से सिर दबवा रहे हैं!" किसी ने पेटदर्द के बदले फोड़ा लेलिया था जिस पर मक्खियाँ भिन भिना रही थीं। कोई टट्टी के बदले मधुमेह ले आया था और कोई बेकारी के बदले कर्ज। पर कोई भी अपनी नई आफत से संतुष्ट न था। सबके सब पुनः भगवान् की शरण में पहुँचे और अपना अपना दुखड़ा रोने लगे। भगवान् ने कहा, "भाई, अब क्या कर दूँ

बताओ।" सब एक स्वर से बोले, "हमारी पुरानी बीमारी ही वापस दे दीजिये।" सबने पुनः सुख की साँस ली और पुरानी बीमारियाँ ले लेकर घर चले।

वास्तव में भगवान् जो भी परिस्थिति हमें देते हैं, वह हमारे कल्याण के लिये ही होती है। जिस प्रकार के सवाल विद्यार्थी नहीं बना सकता, शिक्षक उसे बार बार उसी प्रकार के सवाल देता है जिससे विद्यार्थी उनका हल करने में कुशल हो जाय और जब वह कुशल हो जाता है तब उस प्रकार के सवाल नहीं देता। किंतु बालक इसके रहस्य को न समझ सकने के कारण कहता है, "लो, इन्हीं सवालों को मैं नापसंद करता हूँ और गुरुजी बार बार यही मुझे देते हैं।" हमें यह समझना चाहिये कि परम पिता परमात्मा हमारे परम हितैषी हैं। हमारा प्रयत्न यह रहे कि जो परिस्थिति उन्होंने हमें दी है हम उसमें ही पूरी लगन से अपनी उन्नति करें और परम कल्याण प्राप्त कर लें।

(२)

भगवान ऊँचे शिखर पर बैठे हैं। अनेक साधक उनके पास पहुँचने के प्रयत्न कर रहें हैं। कोई पगडंडी के रास्ते जा रहा है। कोई बड़ी लंबी सड़क से जा रहा है—दीर्घ काल में पहुँचेगा। कोई किसी के सहारे से चल रहा है तो कोई किसी की सलाह से। सबकी इच्छा है कि भगवान् तक पहुँचे, किंतु कोई रास्ते में दूसरी मनोरंजक बातों में भूलकर बहुत धीरे धीरे आगे बढ़ पाता है। कोई पीछे भी हट जाता है।

किसी की लगन प्रबल है तो वह इधर उधर न देखते हुए जल्दी जल्दी आगे बढ़ रहा है। कोई मार्ग संबंधी सारी बातें समझ लेना चाहता है। कुछ लोग तौर-तरीके से अपना रास्ता तय कर रहे हैं। ऐसे भी कुछ लोग हैं जो विशेष कुछ नहीं समझते, पर भगवान् पर पूरा भरोसा रख कर एकाग्र चित्त से बढ़ते जा रहे हैं। इन सब के अतिरिक्त कुछएक ऐसे भी हैं जो कुछ भी नहीं समझते, न समझना चाहते। तरीके और रास्ते से उन्हें मतलब नहीं। वे विधिहीन प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु उनकी लगन बड़ी गहरी है। अनजाने मार्ग से भी आगे बढ़ते ही जा रहे हैं। उनका मार्ग खतरे से भरा है। बालको, विचार करो, भगवान् क्या करेंगे। भगवान् ने सबसे पहले इन विधिहीन और तीव्र लगन वालों को अपने हाथों से उठाकर अपने समीप ले लिया। उन्होंने देखा, 'जो विधि से और सलाह से चल रहे हैं वे तो धीरे धीरे मेरे पास आ ही जायेंगे। पर ये विधिहीन, तीव्र लगन वाले, मार्गहीन होने के कारण, गिरकर कष्ट उठायेंगे। इन्हीं को मैं पहले उठा लूँ।' तत्पश्चात् भगवान् ने उनकी सुधि ली जो पूर्णतया उन्हीं पर निर्भर थे। बाद में धीरे धीरे शेष सब भी अपने अपने प्रयत्नानुसार आते गये।

बालको, ये विधिहीन, लगन वाले कौन हैं, जानते हो? वे हैं शबरी, गीध आदि जैसे दीन लोग। भगवान् पर निर्भर रहने वाले भक्तिमार्गी हैं और तौर-तरीके से चलने वाले लोग ज्ञानमार्गी हैं।

———

प्रश्न :— गीता में एवं धर्मग्रन्थों में अन्यत्र 'स्थितप्रज्ञ पुरुष की जो विशेषताएँ बतायी गयी हैं, उनसे ऐसा लगता है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष मानो पाषाण या जड़वस्तु हो, जिसमें कोई चेतना न हो, — वह सुख-दुख, शीत-उष्ण में अविकारी रहता है। क्या मनुष्य को ऐसी स्थिति सम्भव है ? यदि है तो क्या वह उपादेय है ? पागल मनुष्य भी तो ऐसा ही बरताव करता है।

— नन्दकुमार जोशी, ग्वालियर (म० प्र०)

उत्तर :—धर्मग्रन्थों में स्थितप्रज्ञ पुरुष के जो गुण बताये गये हैं, उनकी प्राप्ति जीवन में सम्भव है। पर वह कोई जड़ अवस्था नहीं है। वहाँ पर चैतन्य अत्यन्त तीव्र रूप से स्पन्दित होता है। जो लक्षण गीता में स्थितप्रज्ञ के बताये गये हैं, वे उस पुरुष के मनोभाव के बाहरी प्रकाश हैं। इस स्थिति को पहुँचा हुआ व्यक्ति मानसिक सन्तुलन की अवस्था को प्राप्त करता है। अनुकूल प्राप्त होने पर वह

सुख से फूलना नहीं, प्रतिकूल प्राप्त होने पर वह उद्विग्न होता नहीं। तात्पर्य यह कि वह अनुकूलता - प्रतिकूलता और इसी प्रकार सारे द्वन्द्वों को प्रकृति का प्रवाह मानता है वह स्वयं इस प्रवाह से अपने को परे समझता है— साक्षी के रूप से। इसीलिए वह निर्द्वन्द्व होता है। यह अवस्था सतत अभ्यास से प्राप्त हो सकती है— विवेक और वैराग्य के अभ्यास से लोगों ने इस स्थिति को प्राप्त किया है।

यह अवस्था उपादेय भी है, बल्कि यों कहें, यही अवस्था समस्त रचनात्मक शक्ति की नींव है। इसको समझाने के लिए एक उदाहरण दें। आप कोई मैच देख रहे हैं। आप दोनों दलों में से किसी की ओर नहीं हैं। आप निष्पक्ष दर्शक हैं। मैच देखने में आपको अधिक आनन्द मिलेगा या किसी एक विशिष्ट दल वाले व्यक्ति को ? निश्चय ही आपको। किसी भी दल से सम्बन्धित व्यक्ति आपके समान आनन्द नहीं उठा सकता। वह तो अपने दल की हार-जीत से चिन्तित रहेगा। दूसरे दल के खिलाड़ी का सुन्दर खेल उसे कोई आनन्द न दे सकेगा। पर आप निष्पक्ष हैं, निर्दलीय हैं, इसलिए दोनों ओर के खिलाड़ियों के खेल का आनन्द उठा सकते हैं। ठीक इसी प्रकार स्थित-प्रज्ञ पुरुष सुख-दुख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों में दोनों विपरीत अवस्थाओं का आनन्द उठाता है; तात्पर्य यह कि वह सुख के ही समान दुख में भी आनन्द का प्रकाश देखता है। अवश्य, यह बहुत ऊँची अवस्था है, पर

असंभाव्य नहीं। हमारे अध्यात्मिक ग्रन्थ इसी को जीवन के लक्ष्य के रूप में निर्देशित करते हैं।

पागल के बाहरी कार्यकलाप देखने में स्थितप्रज्ञ-जैसे लगते हैं, पर पागल और स्थितप्रज्ञ में आकाश-पाताल का अन्तर है। कल्पना कीजिए— प्रकाश के अभाव में जो अन्धकार रहता है उसकी और साथ ही चौंधियाती रोशनी की। ऊपर-ऊपर से दोनों समान से लगते हैं क्योंकि दोनों ही दशाओं में आँखें अपना काम नहीं कर पातीं। पर कितना अन्तर दोनों में है! यही बात पागल और स्थितप्रज्ञ की है। एक में अज्ञान का, विक्षिप्तता का अन्धकार; दूसरे में ज्ञान का, सुबोधता का चौंधियाता प्रकाश।

प्राणघात, चोरी और व्यभिचार ये तीन शारीरिक पाप हैं। झूठ बोलना, निन्दा करना, कटुवचन एवं व्यर्थ भाषण ये चार वाणी के पाप हैं। पर-धन की इच्छा, दूसरे की बुराई की इच्छा, असत्य, हिंसा, दया-दान में अश्रद्धा—ये मानसिक पाप हैं।

— भगवान् बुद्ध

समीक्ष्य कृति :   कैलाश और मानसतीर्थ यात्रा
लेखक : स्वामी अपूर्वानन्द
प्रकाशक : श्री विश्वनाथ दत्त, दि यूरेका प्रिंटिंग वर्क्स-
प्रा० लि०, गोदौलिया, वाराणसी ।
पृष्ठ : २६१ । मूल्य : तीन रुपये ।

स्वामी अपूर्वानन्द की प्रस्तुत कृति हिन्दी-साहित्य की एक अमूल्य निधि है । हिन्दी में यात्रा-विवरणों पर अत्यल्प पुस्तकें ही उपलब्ध हैं । कैलास और मानसरोवर यात्रा का वृत्तान्त तो हिन्दी में मिलता ही नहीं । इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ जाता है । चीनी आधिपत्य के अन्तर्गत जब से तिब्बत सम्मिलित हो गया है तब से कैलाश और मानसरोवर की यात्रा की सम्भावना हम लोगों के लिये मिट गयी है । ऐसी दशा में हम ग्रन्थकार की आँखों से ही हिमालय के गौरव-शिखर कैलास का स्वर्गदुर्लभ दर्शन प्राप्त कर सकते हैं ।

स्वामी अपूर्वानन्द बंग-साहित्य के सुप्रसिद्ध लेखक हैं । आध्यात्मिक मनीषी होने के साथ ही एक उच्चकोटि के साहित्यकार की प्रतिभा भी उनमें है । 'कैलाश और मानस-तीर्थ यात्रा' में उनके व्यक्तित्व के ये दोनों पक्ष एक रूप हो गये हैं । समूचे ग्रन्थ में जहाँ उच्च आध्यात्मिक मनःस्थिति के दर्शन होते हैं, वहाँ स्थान-स्थान पर नगाधिराज हिमालय के सौन्दर्यमण्डित शैलश्रृंगों, क्षिप्रवेगा सरिताओं और

अपूर्व हिमानी दृश्यों का हृदयग्राही वर्णन भी मिलता है। स्वामीजी ने सन् १९३९ में कैलास और मानसतीर्थ की यात्रा की थी। कैलास का पथ अत्यंत दुर्गम माना जाता है। मार्ग की भयावहता और यात्रियों की साहसिकता का वर्णन पुस्तक को रोचक बना देता है। यह ग्रन्थ केवल भ्रमण-वृत्तान्त नहीं है प्रत्युत इसमें तत्कालीन तिब्बती समाज की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन की झाँकी भी दिखायी गयी है। स्वामीजी की उच्चकोटि की सहृदयता उन्हें तिब्बती जीवन को अधिक निकट से देखने के लिये, मुख्य पथ से हटाकर अन्य स्थानों की ओर भी ले जाती है। बौद्ध विहार, मठ और गुम्फाओं का चित्रांकन भी इस ग्रन्थ में यथास्थान हुआ है जो एक ओर तो तिब्बत की सांस्कृतिक चर्या का नियमन करते हैं और दूसरी ओर उसकी विपन्नता का परिदर्शन भी कराते हैं। पुस्तक का कलेवर सुन्दर और नयनाभिराम है। आवरण पृष्ठ पर कैलास और मानसरोवर का आकर्षक चित्र है। पुस्तक अत्यन्त प्रवाहमयी भाषा में लिखी गयी है तथा उसकी शैली सरल और ओजमयी है। सामग्री को देखते हुए पुस्तक का मूल्य अत्यल्प है। प्रत्येक हिन्दी भाषी के लिये यह ग्रन्थ पठनीय और माननीय है। हिन्दी में कैलास और मानसतीर्थ यात्रा पर यह कदाचित् पहला ग्रन्थ है जिसमें समुचित विस्तार है। मैं इस ग्रन्थ का हार्दिक स्वागत करता हूँ।

—डा० नरेन्द्र देव वर्मा

आश्रम समाचार

(१ जून से ३१ अगस्त तक)

साप्ताहिक सत्संग—

इस अवधि में स्वामी आत्मानन्द ने अपने रविवासरीय साप्ताहिक सत्संग में उपनिषद्-प्रवचनमाला के अन्तर्गत कठोपनिषद् पर जुलाई की ३, १०, १७, २४, ३१ तारीखों में तथा अगस्त की ७, १४, २८ तारीखों में १८ वें से लेकर २५ वां प्रवचन दिया। २१ अगस्त को श्री प्रेमचन्द जैन ने रामायण पर रोचक प्रवचन किया।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम—

१५ अगस्त को विवेकानन्द स्मारक सत्संग भवन में राष्ट्र-निर्माता दिवस मनाया गया। दुर्गा महाविद्यालय के प्राध्यापक श्री बी. सी. श्रीवास्तव ने इस कार्यक्रम की अध्यक्षता की। अपने अध्यक्षीय भाषण में पंडित जवाहरलाल नेहरू और श्री लालबहादुर शास्त्री का विशेष उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि भारत के नवनिर्माण में इन दो प्रधान मंत्रियों का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। उन्होंने बतलाया कि श्री नेहरू ने भारत के लिए जिस समाजवाद की कल्पना की थी और उसे मूर्ति रूप देने का प्रयास किया था, वह श्री शास्त्री के हाथों सुदृढ़ हुआ।

माहात्मा गाँधी के योगदान पर चर्चा करते हुए पंचायती राज प्रशिक्षण केन्द्र के प्राचार्य श्री दुर्गादत्त झा ने कहा कि गाँधीजी ने अहिंसात्मक क्रान्ति का नया रास्ता भारतीयों के सामने रखा और

उससे स्वराज्य की स्थापना की। वे एक राजनैतिक नेता कम, पर एक सन्त अधिक थे।

सुभाषचन्द्र बोस पर अपने विचार व्यक्त करते हुए शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक डा० नरेन्द्र देव वर्मा ने सुभाष के अलौकिक शौर्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा कि इस अकेले व्यक्ति ने अपने प्रचण्ड आत्मविश्वास के बल पर भारत को गुलामी की जंजीरों से मुक्त करने का प्रयास किया था। उन्होंने बतलाया कि सुभाष भारत की तरुणाई के स्वप्न थे।

लोकमान्य तिलक पर उक्त महाविद्यालय के इतिहास विभाग के प्राध्यापक श्री डी० एस० वर्मा ने सारगर्भित विचार प्रस्तुत किया और कहा कि वे भारतीय स्वातंत्र्य आन्दोलन के जनक थे। वे भारतीय धर्म और संस्कृति के उद्भट विद्वान् थे तथा भारत नें राष्ट्रीय चेतना का जो दावनल फैला वह उनके प्रेरणादायी लेखों और वक्तृताओं का ही फल था।

स्वामी विवेकानन्द के भारतीय नवजागरण में योगदान पर चर्चा करते हुए उक्त महाविद्यालय के गणित विभाग के प्राध्यापक श्री-देवेन्द्र कुमार वर्मा ने बतलाया कि स्वामीजी केवल आध्यात्मिक मनीषी ही नहीं थे वरन् वे राष्ट्र के महान् उन्नायकों में से थे। वास्तव में स्वामीजी की प्रेरणा ही तिलक, गाँधी और सुभाष के माध्यम से प्रकट हुई थी।

२२ अगस्त को आश्रम के सत्संग भवन में 'तुलसी-जयन्ती' का आयोजन किया गया था। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता रविशंकर विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० बाबूराम जी सक्सेना ने की। उन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण में कहा कि महाकवि तुलसीदास ने

तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का विशेष रूप से अध्ययन किया था और इन्हीं परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने राम को नायक बना, रामचरित-मानस की रचना की थी। आज भी समाज इसी प्रकार की परिस्थितियों में से गुजर रहा है, जब हम चारों ओर अराजकता, विशृंखलता और कुण्ठाओं का दौर देखते हैं तथा मानवीय मूल्यों का आत्यन्तिक ह्रास। ऐसे समय में गोस्वामी तुलसीदास की वाणी हमें सही रूप से जीवन से जूझने की प्रेरणा देती है।

'राम – एक राजनीतिज्ञ' इस विषय पर बोलते हुए डा० गंगाप्रसाद गुप्त ने कहा कि राम केवल आदर्श पुत्र, आदर्श पति और आदर्श भाई ही नहीं थे बल्कि वे एक सफल राजनीतिज्ञ भी थे। उन्होंने अपनी राजनैतिक-कुशलता के बल पर दक्षिण भारत के राज्यों को अपने अधीन किया था और इस प्रकार उत्तर और दक्षिण भारत के बीच एकता का सेतु निर्मित किया था।

डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने रामायण में वर्णित भगवान शंकर के रूप की विवेचना करते हुए कहा कि यह तुलसीदास की सूक्ष्म बुद्धि और अप्रतिम प्रतिभा की ही सूझ है कि उन्होंने शैव और वैष्णवों के झगड़े को सदा के लिए मिटा दिया। तुलसी के शिव राम के अनन्य उपासक बने और राम शिव के। शिव और राम (विष्णु) का यह समन्वय हिन्दू समाज को तुलसी की सबसे बड़ी देन है।

विज्ञान महाविद्यालय के प्राचार्य श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने राम के लोकरंजनकारी रूप का विवेचन करते हुए बतलाया कि राम मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। रामके स्थितप्रज्ञत्व को दर्शाते हुए उन्होंने कहा कि राम अपने राज्याभिषेक के समाचार से न तो हर्ष

से फूले थे और न वनवास की आज्ञा से विषण्ण ही हुए थे। राम के चरित्र के माध्यम से तुलसी ने जनमानस के समक्ष जो उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया है उसे कालप्रवाह म्लान नहीं कर सकता।

प्रचार-कार्य।—

१२ जून को स्वामी आत्मानन्द सरगुजा जिले में बैकुण्ठपुर में थे। वहाँ उन्होंने चुने हुए लोगों के समक्ष 'धर्म का प्रजोजन' इस विषय पर चर्चा की। १४ और १५ जून को उन्होंने जशपुरनगर में 'गीता का सहज योग' और 'श्रीरामकृष्ण देव-एक जीवनी' इन विषयों पर सारगर्भित व्याख्यान दिया। २६ जून को गोंदिया में विवेकानन्द स्वाध्याय मंडल की ओर से आयोजित कार्यक्रम में भाग लेते हुए उन्होंने 'भक्ति का पथ' विषय पर प्रवचन किया।

११ से १६ जुलाई तक स्वामीजी ने अन्तर्राष्ट्रीय योग मण्डल, गोंदिया शाखा द्वारा आमंत्रित होकर ईशावास्योपनिषद् पर छः व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों के माध्यम से ईशावास्योपनिषद् पर विस्तार से चर्चा करते हुए स्वामीजी ने उपनिषद्साहित्य का महत्त्व लोगों के सामने रखा और बतलाया कि वह केवल साधु-संन्यासियों के लिए नहीं हैं प्रस्तुत सभी जन, जीवन के हर क्षेत्र में, उसका लाभ उठा सकते हैं। स्वामीजी ने देश की वर्तमान समस्याओं का भी उल्लेख किया और बतलाया कि चारित्र्य का अभाव ही भारत का सबसे बड़ा रोग है। ईशावास्योपनिषद् के माध्यम से उन्होंने ऐसे उपाय सुझाये जो व्यक्ति और समाज में बुरी तरह व्याप्त इस रोग को दूर करने में हमारी सहायता कर सकते हैं।

Registered with the Registrar of News papers
for India under No. RN. 7764/63-

श्रीरामकृष्ण उवाच

वेदान्तवादी ब्रह्मज्ञानीगण कहते हैं कि सृष्टि, स्थिति, प्रलय, जीव-जगत् यह सब शक्ति का खेल है। विचार करने पर यह सब स्वप्न-वत् मालूम होता है; एकमात्र ब्रह्म ही वस्तु है, बाकी सब अ-वस्तु। शक्ति भी स्वप्नवत् है, अवस्तु है। पर कितना भी विचार क्यों न करो समाधि प्राप्त न होने तक शक्ति के इलाके को लाँघा नहीं जा सकता 'मैं ध्यान कर रहा हूँ', 'मैं विचार कर रहा हूँ, यह सब शक्ति के इलाके के भीतर की बात है, शक्ति के ऐश्वर्य के अन्तर्गत है।

तभी तो कहता हूँ, ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं। एक को मानने पर दूसरे को मानना ही पड़ता है। जैसे आग और उसकी जला की शक्ति। आग को मानने से ही उसकी दाहिकाशक्ति को भी मानना पड़ता है, दाहिकाशक्ति के बिना अग्नि की कल्पना नहीं हो सकती वैसे ही अग्नि के बिना दाहिकाशक्ति का विचार नहीं हो सकता सूर्य को छोड़कर उसकी किरणों की कल्पना नहीं हो सकती। उ- प्रकार, सूरज की किरणों को छोड़ दें तो सूर्य का विचार नहीं होता।

दूध कैसा है ? सफेद, सफेद। दूध को छोड़कर उसकी धवलता नहीं सोची जा सकती। वैसे ही, दूध की धवलता के बिना दूध की कल्पना नहीं हो सकती। इसी प्रकार ब्रह्म को छोड़कर शक्ति को औ शक्ति को छोड़कर ब्रह्म को नहीं सोचा जा सकता। नित्य के बिना लीला को और लीला के बिना नित्य की कल्पना नहीं हो सकती।

आद्याशक्ति लीलामयी है; सृष्टि, स्थिति और प्रलय कर रही है उसी का नाम काली है। काली ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही काली है है एक ही व्यक्ति; नाम और रूप की भिन्नता है।

— २७ अक्तूबर, १८८२

मुद्रक—श्री विश्वेश्वर प्रेस बुलानाला वाराणसी—१